जनवरी 1979

पहले भी सुन्दर
लगते थे
अब भी प्यारे
लगते हैं

हिन्दी की सर्वप्रथम विश्व पत्रिका

सम्पादक

लल्लनप्रसाद व्यास

प्रकाशक

लल्लनप्रसाद व्यास
(विश्व हिन्दी प्रतिष्ठान हेतु)
सी-13, प्रेस एन्क्लेव
साकेत, नयी दिल्ली-110017
फोन 654034
669776

मुद्रक

रूपक प्रिंटर्स
के-17, नवीन शाहदरा
दिल्ली-110032

मूल्य : 4 रुपये

क्रम

अपनी बात

विश्व हिन्दी दर्शन का प्रकाशन मोरिशस में आयोजित द्वितीय विश्व हिन्दी सम्मेलन के निर्णय तथा नागपुर के प्रथम विश्व हिन्दी सम्मेलन में व्यक्त भावनाओं का साकार रूप है। इसके साथ-साथ यह भारत ही नहीं, विश्व-भर में फैले ऐसे करोड़ों लोगों का स्वप्न साकार भी है जो हिन्दी के अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप को उजागर करने वाली एक विश्व पत्रिका के अभिलाषी रहे हैं। इस प्रकार हिंदी की यह सर्वप्रथम अन्तर्राष्ट्रीय पत्रिका संसार-भर के हिन्दीभाषियों और हिन्दी-प्रेमियों को समर्पित है।

विश्व हिन्दी दर्शन का सतत प्रयास होगा हिन्दी भाषा और साहित्य की ऐसी त्रिवेणी जुटाने का जिसमें हिन्दी की तीनों महत्त्वपूर्ण धाराओं का संगम हो जो भारत में राष्ट्रभाषा, प्रवासी भारतीयों की मातृभाषा या मातृभूमि की भाषा तथा विदेशी बंधुओं के पठन-पाठन की भाषा के रूप में विश्व के लगभग सभी भागों में प्रवाहित है। यह महत् ऐतिहासिक कार्य विश्व-भर के हिन्दी लेखकों तथा अन्य सृजनकर्त्ताओं के सहयोग पर निर्भर है। पत्रिका की पृष्ठभूमि दोनों विश्व हिन्दी सम्मेलन की भव्यता, विराटता और व्यापक सद्भाव से युक्त होने के कारण हमें अपने प्रयासों की सफलता के प्रति विनम्र आत्मविश्वास है। अतएव हम यह आशा व्यक्त कर सकते हैं कि अपने सहृदय पाठकों को जहां एक ओर हिन्दी के कुछ शीर्षस्थ विद्वानों से युक्त सम्पादक मंडल के सहयोग से उक्त त्रिवेणी में अवगाहन कराने का प्रयास करेंगे, वहां दूसरी ओर संसार के लगभग सभी महत्त्वपूर्ण देशों में विद्यमान सलाहकार बंधुओं के सहयोग से इस त्रिवेणी का पावन जल विश्व के सुदूर देशों में पहुंचाने का भी प्रयास रहेगा।
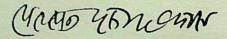
मनोभूमिका

विज्ञान तथा तकनीक के असाधारण अभ्युदय से मानव-जाति अनजाने में ही एकता की ओर अग्रसर हो रही है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की प्राचीन कल्पना अब साकार रूप धारण कर रही है और परस्पर विरोधों के बावजूद यह स्पष्ट परिलक्षित है कि मानव-जाति के अस्तित्व की रक्षा के लिए अगली शताब्दी तक किसी न किसी रूप में विश्व-एकता अनिवार्यतः संभव होगी। ऐसी परिस्थितियों में कोई भी भाषा केवल एकदेशीय नहीं रह जाती और फिर हिन्दी तो गणना में विश्व की भाषाओं में तृतीय स्थान पर है। भारत की राष्ट्रभाषा होने के अतिरिक्त हिन्दी के बोलने तथा पढ़नेवाले अनेक देशों में फैले हुए हैं। इसी परिप्रेक्ष्य में 1975 में नागपुर में प्रथम विश्व हिन्दी सम्मेलन और 1976 में मोरिशस में द्वितीय विश्व हिन्दी सम्मेलन का आयोजन किया गया था। इन सम्मेलनों में विश्व-भाषा होने के नाते हिन्दी के विकास और विस्तार के संबंध में अनेक महत्त्वपूर्ण सुझाव रखे गये और निर्णय लिये गये।

मोरिशस के सम्मेलन में एक निर्णय यह भी लिया गया कि अंतर्राष्ट्रीय हिन्दी पत्रिका का प्रकाशन होना चाहिए जिसके माध्यम से हिन्दी का विश्वरूप निखर सके तथा हिन्दी के माध्यम से विश्व-शांति और मानवीय एकता का संदेश विश्व-भर में प्रसारित किया जा सके। इसी निर्णय को दृष्टिगत रखते हुए हमारे कुछ मित्रों ने यह दायित्व सहर्ष स्वीकार किया तथा विश्व हिन्दी प्रतिष्ठान की स्थापना की। इसके साथ-साथ अंतर्राष्ट्रीय पत्रिका के रूप में 'विश्व हिन्दी दर्शन' के प्रकाशन का निर्णय किया। इस पत्रिका के सम्पादक मंडल में जहां भारत के प्रमुख हिन्दी साहित्यकार तथा बुद्धिजीवी हैं, वहां इसको विराट रूप देने के लिए एक सलाहकार मंडल का गठन भी किया गया जिसमें तीस से अधिक देशों के प्रतिनिधि सम्मिलित हैं। इन सब प्रयासों के फलस्वरूप 'विश्व हिन्दी दर्शन' का यह प्रथम अंक हिन्दीप्रेमियों के समक्ष प्रस्तुत है।

'विश्व हिन्दी दर्शन' के प्रथम अंक का प्रकाशनोद्घाटन भारत के प्रधानमंत्री श्री मोरारजी देसाई द्वारा होना और ऐसे अवसर पर विशिष्ट अतिथि के रूप में मोरिशस के प्रधानमंत्री सर शिवसागर रामगुलाम का उपस्थित होना पत्रिका के विराट रूप का परिचायक है। भारतीयों की गंगा तथा प्रवासी-भारतीयों की यमुना का यह पवित्र संगम इस बात का प्रतीक है कि हिन्दी अब किसी राष्ट्र की सम्पत्ति न रहकर एक विश्वरूप धारण कर चुकी है।

'विश्व हिन्दी दर्शन' इस नये रूप का साकार प्रतीक बने, ऐसी कामना करने का यदि हम साहस करते हैं तो इसी आशा से कि संसार-भर के हिन्दी-प्रेमियों का सहयोग तथा आशीर्वाद हमें प्राप्त होगा।

कर्ण सिंह

(अध्यक्ष, सम्पादक मंडल)

PRIME MINISTER'S OFFICE
MAURITIUS

दिनांक , दिसम्बर 15, 78.

प्रिय व्यास जी,

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि 'विश्व हिन्दी दर्शन' का प्रकाशन भारत तथा विश्व के अनेक हिन्दी विद्वानों के सहयोग से हो रहा है ।

मारीशस द्वितीय विश्व हिंदी सम्मेलन का केन्द्र रहा है । अतः इस पत्रिका के सतत विकास और प्रचार-प्रसार में हमारी रुचि स्वाभाविक है । हिन्दी विश्व को निश्चय ही इस पत्रिका से अभिव्यक्ति का विराट मंच मिलेगा ।

हमारा दृढ़ विश्वास है कि हिन्दी शांति, सहयोग एवं सद्भाव की भाषा है और जागतिक एकता में महत्वपूर्ण योगदान करने में सक्षम है ।

मैं हृदय से इसकी सफलता की कामना करता हूँ ।

शि. रामगुलाम
शिवसागर रामगुलाम
प्रधान मंत्री

हिन्दी को राष्ट्रसंघ में स्थान मिलेगा लेकिन पहले भारत में जरूरी

प्रधानमंत्री श्री मोरारजी देसाई

□ □

देश में राष्ट्रभाषा या संपर्कभाषा का प्रश्न बहुत कुछ देशवासियों की देशभक्ति की भावना से जुड़ा है। हिन्दी जिनकी मातृभाषा नहीं है, वे इसे देशभक्ति की भावना से ही अपना सकते हैं, दूसरा कोई इलाज नहीं।

जहां तक अंतर्राष्ट्रीय भाषा के रूप में हिन्दी का सवाल है, यह पहले अपने यहां तो हो जाये। इतने बड़े देश की भाषा हो जाने पर और जगह भी उसका महत्त्वपूर्ण स्थान बन जायेगा, जैसे दूसरी भाषाओं का अपने-अपने देश में है। जब इस देश में हिन्दी का स्थान बनेगा और इसके साथ ही इस देश का दूसरे देशों के बीच बनेगा, तब उसके साथ-साथ हिन्दी का महत्त्व बढ़ता चलेगा। यह सही है कि विश्व में भारत का प्रतिनिधित्व करने वाली भाषा हिन्दी हो सकती है।

राष्ट्रसंघ में भी एक दिन हिन्दी को स्थान मिलेगा, ऐसा मैं मानता हूं। लेकिन शर्त पहले वह है जो मैंने कही। राष्ट्रसंघ में हिन्दी को स्थान दिलाने में बहुत खर्च देना पड़ेगा। उसे देकर तो आज भी कर सकते हैं। किन्तु उतना खर्च करना आसान नहीं है और फिर उसका फायदा क्या है? अगर अरब देशों ने बड़ा खर्च करके अपनी भाषा का प्रवेश वहां कराया तो क्या उससे वे देश आगे बढ़ गये? अतएव जरूरत है हमारे देश में हिन्दी अधिक बढ़े। ऐसा होने पर वहां भी अपने आप होगी।

जहां तक दक्षिण में हिन्दी का प्रश्न है आप लोगों को वहां जाना चाहिए और वहां के लोगों को समझाना चाहिए। यहां पर बैठकर हिन्दी की बात करने में क्या दम है? वहां जाकर रहने की जरूरत है। तभी हिन्दी के लिए अनुकूल वातावरण बनेगा।

प्रश्न है हिन्दी-भाषी प्रदेशों में पूरी तरह हिन्दी अपनाने का, उसे भी देखना होगा। वे पूरी तरह हिन्दी अपनाते नहीं, पर दूसरों को कहते हैं। लेकिन वहां भी हो रहा है। मैं तो कहता हूं प्रादेशिक भाषाओं में ही परीक्षा हो और शिक्षा भी अपनी-अपनी भाषाओं में हो। ऐसा होने पर हिन्दी-भाषी प्रदेशों में भी पूर्णरूप से हिन्दी आ जायेगी। तब कोई समस्या नहीं होगी।

(सम्पादक श्री लल्लनप्रसाद व्यास से विशेष भेंटवार्ता के आधार पर)

समर्पण-सुख !

भवानीप्रसाद मिश्र

□ □

क्षण-क्षण पल-पल खुद को देना यह जीवन का अर्थ है,
जितना अधिक दे रहा है जो, उतना अधिक समर्थ है।
जो जितना ज्यादा देता है, उतना ज्यादा जीता है वह,
वर्षा-मेघ न बरसे तो फिर भरा-हुआ भी रीता है वह।
हम बस जीवन जियें, उडेलें, अपने प्राणों की रस-गागर,
नहीं चुकेंगे नहीं, भरे हैं हर गागर में कितने गागर !
नदी सिवा बहने के क्या है, जीवन दिये बिना है सूना,
धारा से हरियाली जागे तो, धारा का बहना दूना !
चारों ओर छोड़ने की ही होड़ लगे, पकड़े सो पापी,
बड़ा मजा आ जाय, खत्म हो जाये जगत से आपाधापी।

विश्व हिन्दी सम्मेलन : उपलब्धियां एवं सम्भावनाएं

अनन्त गोपाल शेवड़े

□ □

मानव के इतिहास में सर्वप्रथम विश्व हिन्दी सम्मेलन जनवरी 1975 में भारत में हुआ था और उसके बाद दूसरा विश्व हिन्दी सम्मेलन अगस्त 1976 में मोरिशस में संपन्न हुआ। भारत का सम्मेलन अपने ढंग का अनूठा आयोजन था जिसमें कई कीर्तिमान स्थापित हुए। पर वह विशेष अनहोनी या अस्वाभाविक बात नहीं थी क्योंकि हिन्दी भारत में जन्मी, पली और पोसी गयी भाषा है और संविधान में उसे प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त है। लेकिन जब भारत से तीन हज़ार मील दूर मोरिशस में द्वितीय विश्व हिन्दी सम्मेलन का आयोजन हुआ, तब कहना होगा कि हिन्दी की विश्व-यात्रा आगे बढ़ी और उसका विश्व-मंच दृढ़ हुआ। यह सच है कि मोरिशस के निवासियों में भारतीय मूल के लोगों की संख्या सबसे अधिक है। लेकिन हिन्दी वहां की शासकीय भाषा नहीं है। फिर भी वहां के शासन के निर्णय के अनुसार द्वितीय विश्व हिन्दी सम्मेलन का संयोजन एक उल्लेखनीय एवं महत्त्वपूर्ण बात है।

संयुक्त राष्ट्र संघ में हिन्दी

ये दोनों विश्व हिन्दी सम्मेलन बहुत अधिक मात्रा में सफल हुए, इसमें कोई मतभेद नहीं है। दोनों सम्मेलनों में यह प्रस्ताव सर्वसम्मति से पारित हुआ कि संयुक्त राष्ट्र संघ में हिन्दी को भी आधिकारिक भाषा के रूप में स्थान प्राप्त हो। इसी प्रस्ताव का आदर करते हुए सन् 1977 और 1978 के संयुक्त राष्ट्र संघ के खुले अधिवेशनों में भारत के विदेशमंत्री श्री अटलबिहारी वाजपेयी ने हिन्दी में ही भाषण दिया था। यह एक प्रतीकात्मक क़दम भले ही माना गया हो पर विश्व संदर्भ में उसका अपना महत्त्व है। स्वतंत्रता के तीस वर्ष बाद भारत के प्रतिनिधि-मण्डल के नेता ने उस सर्वोच्च अंतर्राष्ट्रीय संस्था में पहली बार भारत की अपनी राष्ट्रभाषा में भाषण दिया। कोई भी महान् विचार पहले एक स्वप्न या प्रतीक के रूप में ही जन्म लेता एवं अभिव्यक्त होता है। कालांतर में सतत प्रयत्न और परिश्रम करने से वही प्रतीक साकार हो उठता है, व्यापक रूप से मान्यता प्राप्त कर लेता है।

यह ठीक है कि केवल इस मुकाम पर पहुंचने मात्र से आत्म-संतुष्ट हो जाना काफ़ी नहीं है। हमें अपनी कमज़ोरियों और न्यूनताओं का अहसास होना भी ज़रूरी है और यह भी समझना आवश्यक है कि अभी हमें कितनी लंबी, कितनी बड़ी मंज़िल तय करनी है। यह तो हिन्दी के वैश्विक अभियान का केवल प्रारंभ मात्र है। हमें सतत जागरूक रहकर इस बात की सावधानी बरतना आवश्यक है कि हमारा दिशा-बोध सही हो, हमारी साधना और निष्ठा अविचल हो, और

हम कदापि उन भूलों और गलतियों को न दुहरायें जिनके कारण हिन्दी का प्रश्न विवाद और उलझन का प्रश्न बन जाता है। सारे कार्य में नितांत धीरज, सूझ-बूझ और लगन के साथ-ही-साथ घोर परिश्रम और कर्त्तव्य-दक्षता की आवश्यकता है।

स्वेच्छा से स्वीकृति

नागपुर के विश्व हिन्दी सम्मेलन का तो पहली बारहखड़ी से ही श्रीगणेश हुआ था। उसके पहले कोई अनुभव नहीं था, कोई परंपरा या मार्ग-दर्शन नहीं था, कोई बना-बनाया पथ-निर्देश नहीं था जिसकी मदद ली जा सके। उलटे उस समय कई तरह की समस्याएं मौजूद थीं, राजनैतिक वातावरण भी विशेष अनुकूल नहीं था। वास्तव में हिन्दी का प्रश्न भी राजनीति से उलझकर विवादास्पद बन गया था। 1965 में दक्षिण भारत में कुछ स्थानों पर हिन्दी के विरोध में जो दंगे हुए, आत्म-दाह की घटनाएं हुई, उनसे वातावरण में तलखी आ गयी थी, काफ़ी प्रतिकूलता नज़र आ रही थी। हिन्दी के बारे में कुछ गलतफहमियां फैल गयी थीं, मतभेद पैदा हो गये थे और यह डर भी था कि करने जायें कुछ और नतीज़ा निकले कुछ और ही। कहीं समस्या सुलझने के बजाय अधिक उलझ तो नहीं जायेगी ?

भाषा, धर्म, जाति या वर्ण की समस्याएं वैसे भी बड़ी नाज़ुक एवं जटिल होती हैं और उनको गलत ढंग से सुलझाने की कोशिश की तो परिस्थिति विस्फोटक हो जाने का अंदेशा रहता है। इसलिए ऐसे कार्यों में अत्यंत दक्षता, कार्य-कुशलता और मूलभूत सदाशयता की आवश्यकता होती है।

विश्व हिन्दी सम्मेलन के आयोजन के पूर्व इस बात का ध्यानपूर्वक विचार किया गया कि आखिर वे बातें कौन-सी हैं जिनसे हिन्दी के बारे में भ्रांतियां फैली हैं, या जिनके कारण कुछ क्षेत्रों में उसके बारे में संकोच या खिंचाव की भावना है। यदि प्रारंभ से ही उन बातों की सावधानी बरती जाय और हिन्दी को उसके सही और वास्तविक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया जाय तो इस महान् विश्व-यज्ञ के लिए अनुकूलता प्राप्त हो सकती है। वास्तव में वह एक यज्ञ-कर्म ही था क्योंकि उसके पीछे स्वार्थ-संपादन की कोई प्रेरणा नहीं थी, मूलतः लोक-मांगल्य की, विश्व-कल्याण की ही भावना थी।

विश्व हिन्दी सम्मेलन की ओर से सबसे पहले यही आश्वासन दिया गया था कि हिन्दी किसी पर भी लादी या थोपी जाये, ऐसी उसकी रंचमात्र भी भूमिका नहीं है। जो भाषा स्वेच्छा से, अपनी अंतःप्रेरणा से ही सीखी जाती है वही सर्वमान्यता प्राप्त कर सकती है, यही हमारी श्रद्धा है। इसलिए हिन्दी के अभियान में जोर-ज़बर्दस्ती, दुराग्रह या कट्टरपंथी अभिनिवेश की कोई गुंजाइश नहीं है।

सभी भाषाओं के प्रति आदर

दूसरी बात यह कि सम्मेलन की ओर से यह स्पष्ट घोषणा की गयी थी कि हिन्दी की सभी भाषाओं के प्रति नितांत आदर की भावना है। इनमें सभी भारतीय भाषाओं का समावेश तो होता ही है साथ ही विश्व की भाषाओं का भी समावेश होता है। इसके पीछे यही दृष्टि थी कि माता के दूध के साथ जो भाषा सीखी जाती है वह पवित्र होती है। और चूंकि समस्त मातृजाति हमारे लिए वंदनीय है इसलिए विश्व की सभी भाषाएं हमारे लिए पवित्र एवं वंदनीय हैं।

विश्व हिन्दी सम्मेलन के मंच पर इस व्यापक विचार की अभिव्यक्ति एक सुन्दर प्रतीकात्मक ढंग से की गयी थी। भारतीय संविधान के आठवें परिच्छेद में उल्लिखित सभी पंद्रह भाषाओं

के प्रतिनिधि विद्वानों का हिन्दी के विश्व-मंच पर सत्कार करके, हिन्दी ने इन सभी समृद्ध भाषा-भगिनियों के प्रति अपना विनम्र अभिवादन प्रस्तुत किया। पंद्रह भाषाओं के इन साहित्य-कारों के माध्यम से उन सुन्दर भाषाओं को बोलने वाली कोटि-कोटि जनता के प्रति हिन्दी ने अपनी आदर-भावना व्यक्त कर यह श्रद्धा प्रकट की कि सभी भारतीय भाषाओं की उन्नति एवं समृद्धि में ही हिन्दी अपनी उन्नति और समृद्धि का दर्शन करती है। भाषाई एकात्मकता की दृष्टि से इस समारोह का बहुत बड़ा महत्त्व था। इस व्यापक एवं सर्वस्पर्शी पृष्ठभूमि पर किसी भी प्रकार के विवाद और मतभेद का अवसर या कारण नहीं था।

एक बात और हुई। प्रथम विश्व हिन्दी सम्मेलन के आयोजन में ऐसी संस्था ने पहल की जिसका संचालन प्रमुखतः अहिन्दी-भाषी हिन्दी-सेवियों और हिन्दी-प्रेमियों द्वारा किया जाता है। सम्मेलन-स्थल का चयन भी एक अहिन्दी-भाषी क्षेत्र में किया गया था। नागपुर महाराष्ट्र राज्य की उप-राजधानी है जिसकी राज्यभाषा मराठी है। फिर भी इस राज्य में संत ज्ञानेश्वर और नामदेव के जमाने से लेकर आज तक हिन्दी भाषा के लिए बड़ी अनुकूलता रही है। लिपि की समानता के कारण भी इस वातावरण के विकास के लिए मदद ही मिली।

भाषा का वैचारिक पक्ष

विश्व हिन्दी सम्मेलन का वैचारिक एवं दार्शनिक पक्ष भी काफी व्यापक, उदात्त एवं महान् था। मूलतः था तो वह एकभाषाई सम्मेलन; पर अंततोगत्वा भाषा तो एक माध्यम-मात्र है, एक वाहन है, अभिव्यक्ति का एक साधन है। केवल संख्या-बल के कारण ही उसे गरिमा या प्रतिष्ठा नहीं मिलती। उसे यथार्थ में जो गरिमा या प्रतिष्ठा मिलती है वह इस बात से कि उसके माध्यम से कौन-सा जीवन-दर्शन या विचारधारा प्रकट एवं प्रस्तुत की जाती है। उसके द्वारा मानव-जाति के कल्याण एवं मांगल्य के हेतु किन स्वप्नों, आदर्शों और चिंतन का निरूपण या प्रबोधन किया जाता है। और क्या उस भाषा में आधुनिक युग की समस्याओं और प्रश्नों का समाधान करने की क्षमता है?

आज का युग विज्ञान का युग है। विज्ञान ने जहां मानव-जाति को अनेक वरदान दिये वहां कुछ अभिशाप भी दिये हैं। अभिशापों के रूप में संहार और विध्वंस के अस्त्र-शस्त्र प्रमुख हैं। दुनिया एक प्रकार के आतंक से पीड़ित है, खौफनाक वातावरण में रह रही है। युद्ध, संघर्ष, द्वेष आदि से वह आजिज़ आ गयी है, ऊब चुकी है। वह प्रेम और शांति की भूखी है, उसी के लिए लालायित है। इसलिए जो भाषा प्रेम और शांति के जीवन-दर्शन को प्रस्तुत करेगी, मानव-मानव के मस्तिष्कों और हृदयों को जोड़ने का काम करेगी वही सर्वाधिक मान्यता प्राप्त करेगी।

एक विश्व, एक परिवार

इसीलिए विश्व हिन्दी सम्मेलन के बोधचिह्नों में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का उल्लेख था और उसके आयोजन की पृष्ठभूमि में 'एक विश्व, एक परिवार' के लक्ष्य का सतत उद्घोष किया गया था। सम्मेलन की मंच-सज्जा के पार्श्व में भी ईशोपनिषद् के 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' इस मंत्र का ही अंकन किया गया था।

भाषा का प्रश्न राजनीति से सर्वथा अलग रहे यह अत्यंत आवश्यक है। तभी वह अकारण वाद-विवाद से विमुक्त रह सकता है। विश्व हिन्दी सम्मेलन के आयोजकों की यही दृष्टि थी; भविष्य में भी यदि हमें इस क्षेत्र में ठोस एवं व्यापक कार्य करना है तो वही रहनी चाहिए। फिर भी सम्मेलन के लिए भारत सरकार और महाराष्ट्र राज्य सरकार की खुलकर

मदद ली गयी। इसके कारण कुछ राजनीतिज्ञों ने यह आक्षेप भी किया था कि यह एक 'सरकारी तमाशा' है लेकिन इस संबंध में अनेक लेखों एवं मंचों पर से यह स्पष्टीकरण किया गया था कि शासन, फिर वह किसी भी पक्ष का क्यों न हो, संविधान के प्रति निष्ठावान होता है और उसके निर्देशों का पालन करना उसका कर्त्तव्य है। विश्व हिन्दी सम्मेलन का सारा आयोजन संविधान की धारा 351 की भावना के अंतर्गत किया गया था इसलिए जो कुछ भी किया गया था वह सर्वथा भाषा-संबंधी संवैधानिक व्यवस्था को ही दृढ़ बनाने के लिए किया गया था। वास्तव में शासन का यही उत्तरदायित्व भी है। वह किसी भी पक्ष का हो, उससे यही अपेक्षित है। वस्तुस्थिति तो यही थी कि एक गैर-सरकारी संस्था विश्व हिन्दी सम्मेलन के लिए अग्रसर हुई थी और शासन ने उसकी सहायता कर संविधान में दिये गये निर्देशों का पालन-मात्र किया था। केरल के तत्कालीन मुख्यमंत्री केन्द्र-सत्ता के पक्ष से भिन्न पक्ष के थे फिर भी उपराष्ट्रपति जी की अध्यक्षता में गठित राष्ट्रीय समिति के वे सदस्य थे। भाषा का प्रश्न पक्षगत राजनीति से परे है, इसी विचार का वह प्रतीक था।

शासन और भाषा

एक बात और है। कोई भी अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन, जिसमें विदेश के प्रधानमंत्री एवं अन्य मंत्री सम्मिलित होते हों और जिसमें विश्व के सभी राष्ट्रों से, फिर वे किसी भी सत्ता-गुट या राजनीतिक विचारधारा के क्यों न हों, प्रतिनिधि आने वाले हों, बिना शासन के संपर्क-सहयोग के संपन्न किया जा सकता था? हमारी विदेश-नीति सदा से गुट-निरपेक्ष ही रही है और हम सभी राष्ट्रों से मैत्री के इच्छुक हैं। फिर भी जिस किसी भी राष्ट्र से हमारे कूटनीतिक संबंध न हों उनके प्रतिनिधियों को निमंत्रित करने के पूर्व, विदेश मंत्रालय का 'क्लियरेन्स' पाना आवश्यक था। इसी संदर्भ में अपने तत्कालीन विदेश मंत्री जी से चीन के प्रतिनिधियों को निमंत्रित करने के संबंध में परामर्श मांगा था। प्रसन्नता की बात है कि, चूंकि विश्व हिन्दी सम्मेलन कोई राजनीतिक आयोजन नहीं था, उन्होंने हमसे स्पष्टतः कहा था कि उन्हें कोई एतराज़ नहीं है।

हमने अपनी ओर से चीन और पाकिस्तान दोनों देशों के प्रतिनिधियों को निमंत्रित करने का प्रयत्न किया था। वे नहीं आ पाये इसके जो भी कारण रहे हों पर उनका हमारी आंतरिक इच्छा या प्रयत्नों से कोई संबंध नहीं था। हमारी तो यही दृष्टि थी कि अन्य कोई देश हमारे प्रति कोई भी भावना रखे, हमारी ओर से तो सबके लिए हमेशा मैत्री का हाथ ही आगे बढ़ेगा। कोई भी राष्ट्र भारत का शत्रु नहीं है यह हमारी मान्यता रही है। यही हमारी सांस्कृतिक विरासत भी है। वसुधा एक कुटुम्ब है, विश्व एक परिवार है, यह केवल एक बोध-वाक्य ही नहीं था, हमारे दृढ़ विश्वास और आस्था का तथ्य था।

वैश्विक दृष्टि

इसीलिए विश्व हिन्दी सम्मेलन के आयोजन में एक विशाल वैश्विक दृष्टि रखी गयी थी। सौभाग्य से उसका व्यापक स्तर पर स्वागत भी किया गया था। यूरोप, अमेरिका, लैटिन अमेरिका, अफ्रीका और एशिया इन पांच महाद्वीपों के अनेक देशों के प्रतिनिधि विश्व हिन्दी सम्मेलन में आये थे। उनमें 30 देशों के 122 प्रतिनिधि एवं पर्यवेक्षक थे जिसमें सबसे अधिक मोरिशस के थे। भारत से तो लगभग 3000 प्रतिनिधि सम्मिलित हुए थे। यूनेस्को ने अपना विशेष प्रतिनिधि भेजकर विश्व हिन्दी सम्मेलन को विशेष गौरव और सम्मान प्रदान किया था।

विश्व हिन्दी सम्मेलन का कार्यक्रम नागपुर में 10 जनवरी से 13 जनवरी, 1975 तक

चलता रहा। प्रथम दिन भारत की तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी द्वारा उद्घाटन का कार्यक्रम था। बाकी तीन दिन भिन्न-भिन्न विषयों के चर्चा-सत्र थे जिनमें देश-विदेश के अनेक विद्वानों ने सक्रिय भाग लिया था।

विचार-मंथन

जिन विषयों पर विचार-विमर्श हुआ वे इस प्रकार थे :

(1) हिन्दी की अंतर्राष्ट्रीय स्थिति।

(2) विश्व-मानव की चेतना, भारत और हिन्दी।

(3) आधुनिक युग और हिन्दी : आवश्यकताएं और उपलब्धियां।

प्रथम विषय पर तो सारे सम्मेलन ने मिलकर विचार किया और सर्व-सम्मति से यह मांग की कि हिन्दी को संयुक्त राष्ट्र संघ में आधिकारिक भाषा के रूप में मान्यता प्रदान की जाये। मोरिशस और भारत के अलावा रूस और अमेरिका को मिलाकर कुल 31 देशों के प्रतिनिधियों का स्वर इस मांग के समर्थन में मुखरित हो उठा था और तालियों की गड़गड़ाहट से सारा विशाल सभा-मंडप गूंज उठा था। हिन्दी के इतिहास का यह एक अमर क्षण था।

'विश्व-मानव की चेतना, भारत और हिन्दी' इस विषय के अंतर्गत तीन विचार-गोष्ठियां हुईं; उनके शीर्षक थे :

(अ) शाश्वत मूल्यों की खोज।

(ब) जन-संचार साधनों की भूमिका।

(स) विश्व-मानव का मूल्यगत संकट और भाषा तथा लेखन के संदर्भ में युवा पीढ़ी की मानसिकता।

तीसरा विचार्य विषय हिन्दी के व्यावहारिक पक्ष से संबंधित था। इसके अंतर्गत तीन विषयों पर चर्चा-सत्र आयोजित किये गये थे। उनके शीर्षक थे :

(अ) प्रशासन, विधि और विधायी कार्यों की भाषा।

(ब) ज्ञान-विज्ञान का माध्यम।

(स) भाषा-शिक्षण और सहायक सामग्री।

इन सभी विचार-गोष्ठियों के स्तर बहुत ऊंचे थे, बहुत अच्छे थे, जिनमें अनेक बुनियादी और मौलिक मुद्दों पर विचार-विमर्श हुआ था। इनके निष्कर्ष विश्व हिन्दी सम्मेलन के 'प्रतिवेदन' में अंकित हैं जो सम्मेलन की समाप्ति के छह महीने के भीतर ही प्रकाशित कर दिया गया था।

भाषाई समभाव का मांगल्य

13 जनवरी, 1975 को विश्व हिन्दी सम्मेलन का समापन समारोह हुआ जो उप-राष्ट्रपति श्री वासप्पा दानप्पा जत्तीजी की अध्यक्षता में संपन्न हुआ। उसमें भारत की सभी 15 प्रमुख भाषाओं के विद्वानों का भावभीना सत्कार किया गया था जिसका कलात्मक संचालन मुख्यतः महिलाओं ने ही किया था। वह एक पवित्र और मांगलिक समारोह था जिसमें सभी भाषाओं के स्नेह, सद्भावना और एकात्म-भाव का जीवन्त साक्षात्कार होता था। समस्त भारत की कोटि-कोटि जनता के हृदयों को जोड़ने का वह एक अपूर्व यज्ञकर्म था।

उसी अधिवेशन में महासचिव ने अपना वक्तव्य प्रस्तुत किया जिसमें सम्मेलन के विविध चर्चा-सत्रों के निष्कर्ष के रूप में तीन विधायक निर्णयों का उल्लेख था। वे हैं :

(1) संयुक्त राष्ट्र में हिन्दी को आधिकारिक भाषा के रूप में स्थान प्राप्त हो।

(2) वर्धा में विश्व हिन्दी विद्यापीठ की स्थापना हो।

(3) विश्व हिन्दी सम्मेलन की उपलब्धियों को स्थायित्व प्रदान करने की दृष्टि से एक ठोस योजना बनायी जाये।

निर्णय

प्रथम निर्णय के कार्यान्वियन का भार तो भारत सरकार के ही क्षेत्र में आता है और उस समय संसद में विदेश मंत्रालय की ओर से घोषणा भी हुई थी कि संयुक्त राष्ट्र संघ में स्थित भारतीय राजदूत महोदय को इस संबंध में अन्य देशों के प्रतिनिधियों से संपर्क स्थापित करने के लिए कहा गया है।

दूसरे निर्णय के कार्यान्वियन का उत्तरदायित्व राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा, ने उठा लिया था, जिसके तत्वावधान में विश्व हिन्दी सम्मेलन का आयोजन किया गया था।

तीसरे निर्णय पर विचार करने तथा स्थायी योजना बनाने का भार राष्ट्रीय समिति को सौंपा गया था। राष्ट्रीय समिति ने इस कार्य के लिए तुरन्त ही एक उप-समिति का गठन किया और वह अपने कार्य में लग गयी।

इसी बीच मोरिशस की सरकार ने निर्णय लिया कि दूसरा विश्व हिन्दी सम्मेलन वहां आयोजित किया जाये। उसके लिए तिथियां भी निश्चित की गई—28, 29 और 30 अगस्त, 1976। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, नागपुर के सर्वप्रथम विश्व हिन्दी सम्मेलन में मोरिशस का प्रतिनिधि मंडल ही सबसे बड़ा और सशक्त था। वहां के प्रधानमंत्री सर शिवसागर रामगुलाम सम्मेलन के अध्यक्ष थे और उस देश के भारतीय मूल के प्रायः सभी मंत्री सम्मेलन में पधारे थे। हिन्दी को संयुक्त राष्ट्र संघ में आधिकारिक भाषा के रूप में स्थान मिले यह प्रस्ताव मोरिशस के एक वरिष्ठ मंत्री श्री दयानन्दलाल बसन्तराय जी ने ही रखा था जो बाद में मोरिशस सम्मेलन के स्वागताध्यक्ष नियुक्त किये गये थे। उन्होंने नागपुर विश्व हिन्दी सम्मेलन के महासचिव को ही निमंत्रित कर उनपर ही द्वितीय विश्व हिन्दी सम्मेलन के महासचिव पद का उत्तरदायित्व सौंपा।

मोरिशस का सम्मेलन भी बड़ा सफल रहा। उसमें स्वाभाविक रूप से अफ्रीका के अधिक देशों के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए थे। भारत के प्रतिनिधि मंडल का नेतृत्व डॉ० कर्णसिंह जी ने किया था और वे ही द्वितीय विश्व हिन्दी सम्मेलन के अध्यक्ष भी थे।

मोरिशस के मंतव्य

मोरिशस के सम्मेलन में भी तीन निर्णय लिये गये। पहला तो संयुक्त राष्ट्र संघ में हिन्दी को स्थान प्राप्त हो, इसी मांग पर आधारित था। दूसरा था, मोरिशस में ही एक विश्व हिन्दी केन्द्र की स्थापना की जाये। और तीसरे निर्णय के अनुसार एक अंतर्राष्ट्रीय हिन्दी पत्रिका के प्रकाशन का सुझाव स्वीकृत हुआ। बाद में चलकर मोरिशस के मित्रों ने यही कहा कि भारत में इन प्रवृत्तियों के लिए अधिक अनुकूल और व्यापक आधार है इसलिए अधिक अच्छा हो कि इनका कार्यान्वियन भारत में ही किया जाये।

इधर भारत में अनुवर्ती कार्यक्रम की रूपरेखा तैयार करने का कार्य चल ही रहा था। उसके अंतर्गत यह विचार स्थिर हुआ कि 'विश्व हिन्दी प्रतिष्ठान' नामक एक स्थायी संस्था का निर्माण किया जाय, जो दोनों विश्व हिन्दी सम्मेलनों की उपलब्धियों को स्थायित्व प्रदान करने की

दृष्टि से कार्य करे। इसके अध्यक्ष डा० कर्णसिंह ही हैं। उन्होंने ही गत फरवरी मास में नागपुर में विदर्भ राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के पदवीदान समारोह में घोषणा की कि 'विश्व हिन्दी दर्शन' नामक एक अंतर्राष्ट्रीय पत्रिका का प्रकाशन किया जायेगा। उसके लिए भारतीय विद्वानों का एक संपादक मंडल तथा एक अंतर्राष्ट्रीय सलाहकार मंडल गठित किया गया। संपादन का उत्तर-दायित्व श्री लल्लनप्रसाद व्यास पर सौंपा गया।

विश्व हिन्दी प्रतिष्ठान

नागपुर और मोरिशस के दो विश्व हिन्दी सम्मेलनों में जो विचार-मंथन हुआ, और उनके कारण जो अनुकूल वातावरण तैयार हुआ उसका नवनीत है—'विश्व हिंन्दी प्रतिष्ठान'। उसीका मुख पत्र है 'विश्व हिन्दी दर्शन'। नागपुर के विश्व हिन्दी सम्मेलन ने हिन्दी अभियान में कुंठा और विफलता की जो भावना आयी थी उसे दूर करने में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की; हिन्दी के विश्व-मंच की स्थापना की दिशा में ठोस कदम उठाया। मोरिशस के सम्मेलन के बाद यह मंच अधिक दृढ़ हुआ और हिन्दी की विश्व-यात्रा आगे बढ़ी। फिर भी इस वैश्विक अभियान को एक स्थायी आधार की आवश्यकता थी। 'विश्व हिन्दी प्रतिष्ठान' उसीका प्रतिफल है।

'विश्व हिन्दी प्रतिष्ठान' एक गैरसरकारी संस्था है जिसका राजनीति से कोई संबंध नहीं है। हिन्दी के क्षेत्र में, जहां तक भारत का संबंध है, यह संस्था सर्वतः भारतीय संविधान की भावना के अंतर्गत ही कार्य करेगी। अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में वह भारतीय संस्कृति की जो सर्वोच्च कल्पना है—'एक विश्व, एक परिवार,' उसीके अनुसार कार्य करेगी। 'सर्वेषाम् अविरोधेन' यही उसकी कार्यप्रणाली का मूलमंत्र होगा। यह एक सशक्त विधायक कार्य है जो सभा-सम्मेलनों की तरह चौंधियाने वाला तो नहीं होगा, लेकिन क़दम-ब-क़दम धीरे-धीरे आगे बढ़ेगा, बढ़ता रहेगा। यह एक पवित्र अभियान है जिसमें राजनीति या निहित स्वार्थों का कलुष न आने पाये इसकी सावधानी बरतनी पड़ेगी। यदि इसे समस्त हिन्दी संसार का सभी हिन्दी-सेवियों और हिन्दी-प्रेमियों का स्नेह, सहयोग और समर्थन प्राप्त हुआ तो इसकी संभावनाएं कल्पनातीत हैं, असीम हैं। यह एक महान् विश्वव्यापी संगठन बन सकता है जो केवल हिन्दी के प्रचार-प्रसार के लिए ही नहीं वरन् सारी मानव-जाति के सांस्कृतिक पुनरुत्थान के लिए तथा विश्व में प्रेम और शांति का साम्राज्य स्थापित करने की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण एवं युगांतरकारी योगदान दे सकता है। कल्पना महान् है, स्वप्न उदात्त है। उसकी सफलता के लिए हिन्दी-विश्व से आशीर्वाद और सद्-भावना की अपेक्षा है ताकि वह 'विश्व हिन्दी प्रतिष्ठान' को एक मुख से शुभकामनाएं प्रदान करे—'शुभास्ते पंथानः।' □

मरीचिका भारत की

ओ० एम्नेकल

□ □

निर्जल हो गयी है वह सुजला भूमि
जो स्वदेशी लोकाचार को बिसराकर
परदेशी भूषाचार ओढ़े
इठलाती है
हलकी-फुलकी नर्तकी के समान ।

निष्प्राण हो गया है वह सार्वभौम प्राणी
जो विदेशी बोली में प्रवीण-विचक्षण
निजी माता की वाणी को
तुतलाता है
लंगड़े-लूले तोते के समान ।

नेत्रहीन हो गया है वह मृगनयनी महल
जहां वातायन बंद किये मालिक
खगोल के आलोकी वेश में
अपने को विश्व नागरिक
दिखलाता है
बे सिर-पैर के पहलवान के समान । □

हिन्दी का अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप

दयानन्दलाल बसन्तराय

□ □

राजनीतिज्ञों, भाषाविदों, मनीषियों और लोकनायकों ने कई दशाब्दियों से स्वीकार किया है कि हिन्दी अंतर्राष्ट्रीय भाषा है। वे सब इस बात पर सहमत हैं कि संख्या, क्षेत्र-विस्तार, वैज्ञानिकता, गद्य-पुष्टता आदि के कारण हिन्दी ऐसी विश्व-भाषाओं में से एक है जो केवल राष्ट्रीय ही नहीं, अंतर्राष्ट्रीय व्यवहार के लिए सहजतम भाषाओं में से एक, अत्यधिक ग्राह्य, सुगम और सुबोध है।

लेकिन अंतर्राष्ट्रीय रंगमंच पर हिन्दी को आधिकारिक प्रतिष्ठा दिलाने की दिशा में इधर कुछ वर्षों से ही कई ऐतिहासिक घटनाएं घटी हैं और इनसे इस मान्यता को आधिकारिक पुष्टि और बल मिला है। हमारा सौभाग्य है कि मेरा देश मोरिशस इन सारी ऐतिहासिक घटनाओं से प्रत्यक्षरूपेण मुखरित और समर्थ रूप से जुड़ा रहा है।

हिन्दी-संसार को विदित है कि भारत के विदेशमंत्री श्री अटलबिहारी वाजपेयी ने संयुक्त राष्ट्र संघ महासभा के 32वें अधिवेशन में 4 अक्तूबर, 1977 को अपना भाषण हिन्दी में दिया। हिन्दी को अंतर्राष्ट्रीय आधिकारिक गरिमा प्रदान करने का यह महत् कार्य भारत द्वारा विश्व रंगमंच पर संपन्न हुआ। इस तरह संयुक्त राष्ट्र संघ में इसकी संपुष्टि हुई अर्थात् संयुक्त राष्ट्र संघ में हिन्दी ने प्रवेश किया और प्रतिष्ठित हुई। इस घटना का श्रीगणेश प्रथम विश्व हिन्दी सम्मेलन में हुआ, संपुष्टि द्वितीय विश्व हिन्दी सम्मेलन में हुई और समर्थ कार्यान्वयन भारतीय विदेश मंत्री द्वारा संयुक्त राष्ट्र संघ में हुआ। इसके पीछे मोरिशस का ऐतिहासिक और अविस्मरणीय योगदान रहा है। हम इतिहास के कृतज्ञ हैं कि हमें यह भूमिका निभाने को मिली।

नागपुर (भारत) के प्रथम विश्व हिन्दी सम्मेलन में हिन्दी संसार और भारत ने हमारे प्रधानमंत्री को अध्यक्ष बनाया। अपने प्रवासियों की संतानों को यह महत्त्व देकर भारत ने हमें गरिमा प्रदान की और हिन्दी-संसार ने मोरिशस के हिन्दी-संसार को महत्त्व से अलंकृत किया। हमने उस अधिवेशन में प्रस्ताव रखा कि हिन्दी को संयुक्त राष्ट्र संघ की भाषा स्वीकार किया जाये जिसे सर्वसम्मति से पारित किया गया।

हिन्दी हमारी जीवनधारा है, फिर पितरों का भी ऋण संतानों पर होता है—हिन्दी को एक युग के व्यथा-वेदना-भरे जीवन में भी हमारे पूर्वजों ने भारत से इतनी दूर एक द्वीप में जीवित रखा और अपनी संतानों को, हमें, उसमें दीक्षित कर गये; उन्होंने तो पितृऋण उतार लिया मगर हम स्वतंत्र अस्तित्व वाले राष्ट्र के नागरिकों को भी पितरों का ऋण उतारना है। अतः जब द्वितीय विश्व हिन्दी सम्मेलन के लिए हिन्दी-संसार ने हमारा आह्वान किया तो मंच के रूप

में हमने अपने को समर्पित किया। अगाध सिंधुजल की मेखला से मंडित मोरिशस की धरती पर मोरिशस सरकार ने द्वितीय विश्व हिन्दी सम्मेलन का प्रत्यक्ष आतिथ्य, प्रत्यक्ष संचालन और प्रत्यक्ष उत्तरदायित्व संभाला। अफ्रीका महाद्वीप के एक देश, मोरिशस, ने विश्व हिन्दी को संपूर्ण और निर्बन्ध राजकीय संरक्षण और राजकीय पीठिका प्रदान की। पितरों के ऋण से आंशिक उऋणता के सौभाग्य का बोध स्वयं हमारे प्रधान मंत्री के शब्दों में इस प्रकार है :

> विश्व हिन्दी सम्मेलन के द्वितीय मंच के रूप में मोरिशस का चुना जाना हमारे लिए सौभाग्य की बात है। सम्मेलन महात्मा गांधी संस्थान में हो रहा है। सन् 1901 में महात्मा गांधी यहां आये थे और प्रवासियों से शिक्षा और राजनीति में विशेष रुचि लेने का आग्रह किया था। उसी आग्रह का सुफल है कि आज हम स्वाधीन हैं और अपनी भाषा से जुड़े हैं। यह सम्मेलन हमारी ओर से महात्मा गांधी और हमारे प्रतापी पुरखों के प्रति हमारा हार्दिक कृतज्ञता-ज्ञापन है।

इस द्वितीय विश्व हिन्दी सम्मेलन में मोरिशस ने अपने-आपको भारत से बाहर, एशिया से बाहर, अफ्रीका महाद्वीप में विश्व हिन्दी के अंतर्राष्ट्रीय मंच के रूप में प्रस्तुत किया तथा भारतेतर उन समस्त देशों का अगुआ बना जहां हिन्दी-भाषी तथा अन्य भारतीय भाषा-भाषी बसते हैं, और राष्ट्र के रूप में जिनका निजी अस्तित्व है।

इस तरह भारत के बाहर मोरिशस में आयोजित इस द्वितीय सम्मेलन ने विश्व-हिन्दी के अति सुस्पष्ट आकार को प्रतिभासित किया और कथ्य को तथ्य के रूप में प्रस्तुत किया। यहां हिन्दी को संयुक्त राष्ट्र में भाषा के रूप में मान्यता देने के प्रस्ताव को दुबारा पारित किया गया और इस घटना की परिणति संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा में भारतीय विदेशमंत्री के हिन्दी भाषण के रूप में हुई। ये तीनों अस्तित्व बोधक और इयत्तासूचक घटनाएं हिन्दी के अंतर्राष्ट्रीय रूप की सिद्धि-यात्रा में तीन मील के पत्थर मानी जायेंगी।

इसकी दूसरी उपलब्धि यह हुई है कि भारत और मोरिशस के अतिरिक्त हिन्दी भाषा-भाषियों से भरे दूसरे देशों को मोरिशस की पहल से प्रेरणा मिली है और उन्हें भी हिन्दी के समर्थन में आवाज़ उठाने के लिए नया संबल मिला है। इन देशों को एक देश की पहल के कारण प्रेरणा मिलने के साथ-साथ भाषाई आत्मगौरव और अहंबोध हुआ है जिससे हिन्दी को विश्व-मंच दिलाने के लिए जो कटिबद्धता की भावना है वह प्रतिबद्धता में परिणत हो सकती है।

ऐसे देश भी हैं जहां यूरोपीय भाषा-भाषी हैं और वे अत्यंत रुचि के साथ हिन्दी पढ़ते हैं। वहां के विश्वविद्यालयों में हिन्दी की विधिवत् शिक्षा-दीक्षा होती है। भारतीय संदर्भ में उठकर अंतर्राष्ट्रीय संदर्भों के इस प्रमाणीकरण से इन विश्वविद्यालयों के हिन्दी अध्ययन-अध्यापन को कोटि और संख्या दोनों दृष्टियों से अधिक विस्तृत होने का प्रोत्साहन मिला है। अखिल हिन्दी-संसार की द्रष्टव्य व्यापकता इस तरह और भी बढ़ गयी है। मोरिशस के संदर्भ में द्वितीय विश्व हिन्दी सम्मेलन की उपलब्धियों की चर्चा करते हुए यही कहना होगा कि मोरिशस के हिन्दी-जगत् और अन्य भारतीय भाषा-भाषी समाज पर इसकी अमिट और ऐतिहासिक छाप पड़ी है। अत्यंत ही प्रभविष्णु रूप से इस सम्मेलन ने भाषा के प्रति आत्मगौरव, अहंबोध जाग्रत् किया और हमारे आत्मसम्मान को बढ़ाने में इसने सहायता भी पहुंचायी। भाषाई दृष्टि से यहां के हिन्दी भाषा-भाषी उभरकर अंतर्राष्ट्रीय मंच पर आये, उन्हें यह देखने का प्रत्यक्ष रूप से अवसर मिला कि उनकी भाषा कितनी गौरवशालिनी और व्याप्त है। उन्होंने इसमें सहयोग देकर सीखा कि अपनी भाषा का गौरव बढ़ने से उनका वैयक्तिक और सामाजिक गौरव शिखरों पर पहुंचता है। उन्हें

जो सुनने को मिलता था कि हिन्दी विश्व के विराट् जन-समूहों की भाषा है, विश्व के अनेकानेक देशों में इसका चलन और व्यवहार है, यूरोपादि के संपन्न और संभ्रांत देशों में इसका विधिवत् अध्ययन होता है, इसका सत्य उनके सामने साकार रूप में प्रकट हुआ।

मोरिशस में हिन्दी की जड़ कितनी गहरी पैठी हुई है, इसके प्रचार-प्रसार में हमने अपना खून-पसीना एक किया है, इसकी चर्चा करना यहां आवश्यक प्रतीत नहीं होता है क्योंकि अब इससे हिन्दी-संसार और विशेषकर भारत पूर्ण परिचित हो चुका है। केवल यही कहना पर्याप्त होगा कि इसका सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि यहां, हमारी धरती पर, विश्व हिन्दी सम्मेलन हुआ और इसका संपूर्णतया और प्रत्यक्ष राजकीय आयोजन हुआ।

हम आकार की दृष्टि से एक नन्हे द्वीप के वासी हैं किंतु विनीत स्वर में मुझे कहना है कि 'प्रकार' की दृष्टि से हमने हिन्दी संसार की सेवा करने में बड़े देश के साथ होड़ लगा रखी है। हमारी सीमाएं भी हैं और क्षमता की बात भी आती है। मोरिशस बहु-भाषा-भाषी देश है; हिन्दी, फ्रेंच, चीनी, अंग्रेज़ी चार अंतर्राष्ट्रीय भाषाएं हमारे समाज के विभिन्न वर्ग बोलते हैं। साथ ही भारत की तरह ही, हिन्दी, उर्दू, तमिल, तेलुगु, मराठी, गुजराती ये छह भारतीय भाषाएं हमारा भारतीय मूलक समाज बोलता है। हिन्दी बहुसंख्यकों की भाषा है मगर हम राजकीय और सामाजिक स्तरों पर समस्त भारतीय भाषाओं और उपर्युक्त अंतर्राष्ट्रीय भाषाओं को समान सुविधा और सम्मान प्रदान कर रहे हैं। इससे भी सम्मेलन का राजकीय आयोजन हमारे हिन्दी-प्रेम को परिलक्षित करता है।

उपलब्धियों की चर्चा करते समय मुझे मानना होता है कि अंतर्राष्ट्रीय पत्रिका और अंतर्राष्ट्रीय केन्द्र बनाने की दिशा में हम अब तक कुछ प्रगति नहीं कर पाये हैं। कारणों का विश्लेषण करना इस निबंध के दायरे में संभव नहीं है। मैंने अपने गत भारत-भ्रमण के अवसर पर भारत के विदेश मंत्री श्री वाजपेयी से तृतीय विश्व हिन्दी सम्मेलन के आयोजन पर विस्तार से चर्चा की है। इस आयोजन के लिए देश, समय और साधनों पर अब विस्तार से आधिकारिक चर्चा करना आवश्यक है।

हिन्दी और संस्कृत का मां-बेटी का नाता है और वे परस्पर एक-दूसरे से बंधी हैं। इस दृष्टि से मोरिशस ने अपनी संपूर्ण जागरूकता प्रदर्शित की है। मेरे तत्त्वावधान में हिन्दू महासभा (जो सांस्कृतिक-सामाजिक संगठन है) संस्कृत की कक्षाएं चलाती है और परीक्षाएं लेती है। संख्या में आशातीत वृद्धि हुई है। ब्राह्मण महासभा भी संस्कृत की परीक्षाओं का आयोजन करती है। इनकी परीक्षाओं में भी संख्या बढ़ती रही है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन की परीक्षाओं में संस्कृत है। हाल ही में महात्मा गांधी संस्थान ने भी संस्कृत का अध्यापन प्रारंभ किया है। इस तरह हिन्दी सम्मेलन के बाद प्रत्येक प्रकार से हिन्दी के प्रचार-प्रसार में जो मोरिशस लगा हुआ था उसमें और भी प्रगति आयी है।

हमारे देश में इस भाषा को धर्म-जीवन-संजीवनी और प्राणशक्ति के रूप में रक्षित रखा गया है। इस भावना को हम प्रोज्ज्वल और प्रखर रख रहे हैं। □

सोवियत संघ में हिन्दी

डा० पी० ए० बारान्निकोव

□□

प्राचीन काल से ही हमारे देश की जनता भारतीय जनता की संस्कृति के प्रति गहरी अभिरुचि रखती है। इसके फलस्वरूप रूस में भारतीय जनता की विभिन्न भाषाओं के अध्ययन करने की इच्छा उत्पन्न हुई। दो शताब्दियों से भी अधिक समय से संस्कृत का अध्ययन हो रहा है। साथ ही साथ इसी अवधि में रूस के विद्वान् भारत की आधुनिक भाषाओं के प्रति, जिनमें हिन्दी भी शामिल है, अभिरुचि रखते थे।

पहली बार रूस में प्रकाशित भाषा-संबंधी साहित्य में हिन्दी भाषा-संबंधी विवरण अकादमिशियन टी० ए० बाडएर के निबंध में मिलता है जो सन् 1735 में प्रकाशित हुआ था। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पेतेर्सबुर्ग (लेनिनग्राद) में संसार की सभी भाषाओं के तुलनात्मक शब्दकोश का संकलन हो रहा था। उसमें अकादमिशियन पी० एस० पल्लास ने हिन्दी भाषा के शब्दों को भी सम्मिलित किया। वे शब्द आस्त्राखान नगर में आये हुए भारतीय व्यापारियों की सहायता से संगृहीत हुए थे।

गेरासिम लेबेदेव भारत में लगभग पच्चीस वर्ष रहे। स्वदेश जाते हुए इन्होंने सन् 1801 में लंदन में अपने हिन्दी व्याकरण को प्रकाशित किया।[1] उन्नीसवीं शताब्दी में एम०ए० काज़ेमबेक ने अपने एक लेख में, जो सन् 1857 में प्रकाशित हुआ, हिन्दी का विस्तृत परिचय दिया।[2] जब हमारे देश में महान् अक्तूबर समाजवादी क्रांति हुई, तब सोवियत संघ में हिन्दी भाषा का अध्ययन नियमित रूप से होने लगा।

सन् 1927 में ए० पी० बारान्निकोव ने हिन्दी के शब्दों की पुनरावृत्ति के विषय पर एक निबंध प्रस्तुत किया।[3] अपने दूसरे लेख में, जो भारत में प्रकाशित हुआ इन्होंने हिन्दी की संयुक्त क्रियाओं पर प्रकाश डाला।[4] इनके एक और लेख का विषय था—आधुनिक साहित्यिक हिन्दी। यह लेख लंदन से प्रकाशित हुआ।[5] ए० पी० बारान्निकोव ने 'गद्यात्मक हिन्दी की

1. H. Lebedeff. A Grammar of the pure and mixed East Indian dialects with dialogues affixed, spoken in all the Eastern Countries, methodically arranged at Calcutta, according to the Brahmanian system of the Shamskrit language.—London, 1801.
2. म० अ० काजेम-बेक। नचालो प्रोस्वेश्चेनिया व निनेश्नेय इन्दिई। पेतेर्सबुर्ग, 1857।
3. अ० प० बारान्निकोव। स्लोवार्नोये पोव्तोरेनिये व हिन्दुस्तानी। लेनिनग्राद, 1927।
4. A. P. Barannikov. On the Problem of Compound Verbs in the Hindi Language. कोषोत्सव स्मारक संग्रह, 1929.
5. A. P. Barannikov, Modern Literary Hindi.—Bull. of the School of Orient Studies, London, 1936, Vol. 8, pt. 2, p. 373-390.

समस्या' नामक अपने निबंध में हिन्दी गद्य के विकास पर प्रकाश डाला है ।[6]

आधुनिक हिन्दी तथा उर्दू के विकास पर पी० ए० बारान्निकोव ने एक लेख तैयार किया, जो सन् 1954 में प्रकाशित हुआ ।[7]

'हिन्दी भाषा' नामक पुस्तक त० ए० कातेनिना ने सन् 1960 में प्रकाशित की ।[8]

हिन्दी भाषा के इतिहास तथा समस्याओं पर पी० ए० बारान्निकोव की तीन रचनाएं उल्लेखनीय हैं—'हिन्दी भाषा का इतिहास : काल-निर्धारण की समस्या',[9] 'हिन्दी क्षेत्र में हिन्दी भाषा की समस्याएं,[10] तथा 'हिन्दी और उर्दू की समस्या' ।[11]

हिन्दी के ध्वनि-समूह पर स० ग० रूदिन ने प्रकाश डाला ।[12]

हिन्दी व्याकरण-संबंधी अनेक रचनाएं व० म० बेस्क्रोवनी तथा ज़० म० दिमशित्स ने तैयार कीं । हिन्दी के वाक्य-विन्यास पर अनेक कृतियां द० प० लिपेरोवस्की तथा व० अ० चेरनिशोव ने प्रस्तुत कीं ।

हिन्दी के शब्द समूह पर भी सोवियत संघ में महत्त्वपूर्ण कार्य हो रहा है । इस दिशा में अनेक भाषाविदों ने काम किया, अ० स० दवीदोवा, अ० कोसोनोवस्की, अ० स० बारखुदारोव तथा पी० ए० बारान्निकोव ।

इन सभी तत्थों से विदित है कि सोवियत संघ में हिन्दी भाषा का अनुसंधान-कार्य अनेक दिशाओं में होता जा रहा है । □

6. अ० प० बारान्निकोव । प्रोबलेमा प्रोज़ाइचेस्कोगो हिन्दी । ज़ापिस्की इंस्तितूता वोस्तोकोवेदेनिया । मास्क्वा—लेनिनग्राद, 1939, तोम 7, स्त्र० 203-253.
7. प० अ० बारान्निकोव । ओ स्लोजेनिई नात्सिओनालनोगो यज़िका हिन्दुस्तानी । उचेनिये जपीस्की लेनिनग्रादस्कोगो उनिवेरसितेता, 1954, स्त्र० 230-250.
8. त० ए० कातेनिना । यज़िक हिन्दी । मोस्क्वा, 1960.
9. P. A. Barannikov. On the Periodisation of the History of the Hindi Language. "Hindi Review", Varanasi, 1960, vol. 5, N. 9, p. 172-184.
10. प० अ० बारान्निकोव । प्रोबलेमि हिन्दी काक नात्सिओनालनोगो याज़िका । लेनिनग्राद, 1972 ।
11. P. A. Barannikov. The Problem of Modern Hindi and Urdu in the Light of the Lexical Synonimy.—Kunwar Mohammad Ashraf. Berlin, 1966, p. 274-288.
12. स० ग० रूदिन । नेकोतोरिये वोप्रोसि फ़ोनेतिकी याज़िका हिन्दुस्तानी । मोस्क्वा, 1958 ।

डाकिया और नोबुल पुरस्कार

प्रख्यात लेखक, नोवल पुरस्कार विजेता विलियम फाकनर किसी जमाने में मिसिसिपी में डाक-मुंशी था । जब उसने नौकर छोड़ी तो पोस्टमास्टर जनरल को त्यागपत्र लिखकर भेजा जो अब अक्सर पर्यटकों को दिखाया जाता है । उसने लिखा था, "जब ज़िन्दगी जीनी ही है तो अक्सर धनवानों का मुंह देखना ही पड़ेगा यह तो मजबूरी है । लेकिन अब यह तो असहनीय है कि जिस भी गंवार-उजड्ड के पास खरीदने को तीन पैसे हों, मैं उसकी खिदमत बजाऊं । हरगिज़ नहीं । यह लीजिए, मेरा इस्तीफा है ।

ब्रिटेन में हिन्दी

डा० आर० एस० मॅकग्रेगर

□ □

अठारहवीं शताब्दी में भारतीयों और अंग्रेज़ों का उत्तर भारत में मिलना-जुलना हो गया था, तभी से अंग्रेज़ लोग हिन्दी की व्यावहारिक महत्ता समझते रहे हैं। हिन्दी के व्याकरण के अध्ययन की और कोश-कार्य की नींव रखने वाले प्रसिद्ध विद्वान् जान गिलक्राइस्ट का नाम सभी जानते हैं। गिलकाइस्ट के कई समकालीन कार्यकर्त्ता भी थे, जो उनकी तरह प्रसिद्ध नहीं हो पाये। उनके कई अग्रगामी भी थे। उन लोगों की कार्यवाही से सिद्ध होता है कि आधुनिक काल की हिन्दी-उर्दू के कोश-कार्य की जो परम्परा है, वह संस्कृत से भी पुरानी है। आगे चलकर समय के साथ और भी महानुभाव निकले, जिनमें जेम्स राबर्ट बैलंटाइन का नाम उल्लेखनीय है। बैलंटाइन ने सन् 1840 के लगभग बनारस के संस्कृत कॉलेज में संस्कृत-निष्ठ हिन्दी और संस्कृत में ही भाषण दिया करते थे। उनके विद्यार्थी जब उनसे पूछने लगे कि आपने हिन्दी की यह नयी शैली क्यों अपनायी ? हमें उर्दू से ही रोटी कमानी है। तो उन्होंने उत्तर दिया कि—इस देश की एक राष्ट्रभाषा तो होनी चाहिए। बैलंटाइन से पहले राष्ट्रभाषा शब्द को किस-किसने प्रयोग किया ?

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में नयी आर्य भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन की नींव डाली गयी और समय के साथ कई विद्वान् हिन्दी साहित्य के अध्ययन के विविध क्षेत्रों में आये। उन लोगों की संख्या कम थी, लेकिन उनके उत्तराधिकारियों का सिलसिला बीसवीं शताब्दी में आगे चलकर अटूट ही रहा। फिर भी कहना यही पड़ेगा कि इस ज़माने में अधिकतर अंग्रेज़ों का ध्यान आधुनिक भाषाओं की उपयोगिता से कुछ हटकर दूसरे विषयों पर चला गया था। इसका नतीज़ा यह हुआ कि जिन अंग्रेज विद्यार्थियों की रुचि भारतीय भाषाओं और साहित्य की ओर गयी, उस काल में वे अधिकतर संस्कृत की ओर ही खिंच गये, न कि आधुनिक भाषाओं की ओर।

ऊपर का पलड़ा कब नीचे जाने वाला था ? द्वितीय महायुद्ध के बाद यह निश्चय कर लिया गया था कि भारतीय भाषाओं के ही नहीं, समस्त एशियायी भाषाओं के पढ़ने-पढ़ाने के प्रबन्ध में मौलिक परिवर्तन करने चाहिए। यह तो नया ज़माना था। इस दूरदर्शी निश्चय के फलस्वरूप हिंदी भाषा और साहित्य पढ़ने का एक त्रिवर्षीय, चतुर्वर्षीय अध्ययन-क्रम की व्यवस्था रखी गयी। भारत की संस्कृति, साहित्य और भाषाएं तो विदेशी विद्यार्थी के लिए बिल्कुल नयी अध्ययन-सामग्री है, इस बात पर ध्यान देकर समझा गया था कि विदेशी विद्यार्थी कई साल तक अध्ययन करने पर इन विषयों में लाभ पाकर पैठ कर सकेगा। साथ ही, एक दूसरी बात भी सोचने की थी; विद्यार्थियों को भारत के जीवन के अलग-अलग पहलुओं से परिचित करा देना था—इतिहास, सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था इत्यादि। ऐसे विषय पढ़ने से उनमें भाषा और साहित्य के अध्ययन

के लिए एक ठोस नींव बन जाये। (दूसरी तरफ यह भी कहा जा सकता है कि विद्यार्थी किसी अज्ञात संस्कृति में तभी पैठ सकेगा, जब उसने उसकी भाषा या भाषाओं का अध्ययन कर लिया है या कर रहा है)। इस बहुरूपी अध्ययन-आदर्श का नाम पश्चिमी देशों में 'क्षेत्रोन्मुख' (एरिया स्टडीज़) रखा जाता है। उस अध्ययन में भाषा-विज्ञान का भी समुचित स्थान है। किसी भाषा की बनावट के समझने में भाषा-विज्ञान का ज्ञान कितना उपयोगी हो सकता है, यह अच्छी तरह समझा गया। उपर्युक्त दोमुखी दृष्टिकोण के अनुसार, हिन्दी के अध्ययन की व्यवस्था ब्रिटेन के विश्वविद्यालयों में स्थापित हो गयी है। सबसे पहले लन्दन के प्राच्य अध्ययन संस्थान में, जहां भारत के अध्ययन के लिए क्षेत्रोन्मुख पृष्ठभूमि की सामग्री की व्यवस्था उसी एक संस्थान में मिलती है, और बाद में कैम्ब्रिज में, जहां प्राच्य भाषाओं और साहित्य के अध्ययन प्राच्य विद्या के ही संकाय में किये जाते हैं, और यार्क में, जहां हिन्दी का अध्ययन-अध्यापन अधिकतर भाषा-विज्ञान के ही सम्बन्ध में विकसित हुआ है।

चूंकि यूरोपीय विद्यार्थियों को हिन्दी का अध्ययन आरम्भिक स्तर से ही शुरू करना है, इसलिए उन्हें वहां तक पहुंचने के लिए, जहां के साहित्य के पढ़ने से वे पूरा लाभ उठा सकते हैं, जल्दी ही आगे बढ़ना पड़ता है। पढ़ाने वाले का कार्य यदि एक ओर विद्यार्थियों के सामने एक विविधता-भरी साहित्य-सामग्री रखना है, तो दूसरी ओर उसे यह भी देखना है कि हिन्दी बोलने में भी विद्यार्थी तरक्की करते रहें। नहीं तो पढ़ने में भी प्रगति कम ही करेंगे। हिन्दी भाषा पढ़ाने की अधिकतर एक दोतरफा प्रक्रिया वहां अपना ली गयी है, जिसमें एक तो नवीनतम अध्यापन-साधनों का प्रयोग किया जाता है, साथ ही पढ़ने वाले का ध्यान शुरू से ही लिपि और व्याकरण दोनों पर आकृष्ट किया जाता है।

अपने कोर्स के हर वर्ष में विद्यार्थी हिन्दी बोलने का अभ्यास और अनुवाद या निबन्ध लिखने का अभ्यास करते हैं। साहित्य का अध्ययन पहले वर्ष के दूसरे पर्व से शुरू होता है। पहले वर्ष में प्रेमचन्द और उपेन्द्रनाथ अश्क की कई कहानियां पढ़ी जाती हैं। आगे चलकर विद्यार्थी दूसरे और तीसरे वर्षों में अज्ञेय, महादेवी वर्मा, नागार्जुन और हरिश्चन्द्र की कोई-कोई गद्य-रचना और नयी पीढ़ी के कई गद्य-लेखकों की कृतियां पढ़ते हैं। साथ ही उनका छायावादी कवियों से भी परिचय हो जाता है। मध्यकालीन साहित्य के क्षेत्र में तुलसीदास, सूरदास, नन्ददास और कबीर के उद्धृत अंशों का खास अध्ययन किया जाता है। दूसरे कवियों के साहित्य का भी यथा-सम्भव अध्ययन किया जाता है। हमें ऐसे दोतरफा पाठ्यक्रम, गहन पठन और विस्तृत अध्ययन की ऐसी मिलावट करने से आशा है कि हमारे विद्यार्थी हिन्दी साहित्य के विविध पहलुओं से यथारुचि लाभ उठायेंगे।

पिछले दशकों में कई प्रकार के शोध-कार्य हुए हैं। हिन्दी सिखाने के व्यावहारिक क्षेत्र में और हिन्दी के व्याकरण के अध्ययन के क्षेत्र में कार्य हो भी रहे हैं और प्रकाशित भी हुए हैं। भाषा-विज्ञान में वर्णनात्मक और रूपान्तरणपरक दोनों प्रकार के कई अध्ययन हुए हैं। दूसरा कार्य-क्षेत्र असम्पादित पांडुलिपियों को सम्पादित करने का रहा है। हिन्दी साहित्य के कई रचना-अनुवाद साहित्यिक-सांस्कृतिक टिप्पणी के विषय बन गये हैं और बन रहे हैं। आधुनिक साहित्य के कई पहलुओं पर लेख लिखे गये हैं। आशा है कि ऐसे शोध-कार्य विद्यार्थियों का काम सुलझाने में सहायक होंगे। विदेशी विद्यार्थियों के सामने तो कठिनाइयां बहुत होती हैं : भाषा की, शैली की, विभाषाओं के बाहुल्य की, अज्ञात सांस्कृतिक विशेषताओं की—हर नये पाठ में अपनी-अपनी नयी कठिनाइयां तो होती ही हैं। विद्यार्थी को अक्सर ऐसा लगता है कि मैं भगीरथ प्रयत्न करने पर भी कभी ऐसे रोड़ों को पार न कर पाऊंगा। काश, कि विद्यार्थियों की हर मुश्किल,

के लिए कोई लेख या प्रबन्ध मौजूद होता, जो ऐन मौके पर हनुमान के चमत्कार का-सा काम दे सकता था :

जस जस सुरसा बदन बढ़ावा।
तासु दुगुन कपि रूप दिखावा ।।

इससे हम विश्वविद्यालय की पढ़ाई छोड़ दें? पिछले कई वर्षों में ब्रिटेन में हिन्दी की स्थिति का एक और पहलू दिखाई देने लगा है, जो आगे चलकर बहुत ही महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगा। यह नयी स्थिति उन लोगों का इंग्लैंड में बस जाना है, जिनकी मातृभाषा या तो हिन्दी-उर्दू कही जा सकती है, या हिन्दी से संबंध रखने वाली कोई और भारतीय भाषा है। अक्सर ऐसा होता है कि ये लोग ब्रिटेन में बसकर भारत से अपने सांस्कृतिक संबंध बनाये रखना चाहते हैं। संस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण अंग तो भाषा ही है। इसलिए भविष्य में हिन्दी की ओर ज्यादा ध्यान दिया जाने लगेगा, मुझे ऐसा विश्वास है। लंदन जैसे नगरपालिकाओं द्वारा आयोजित 'एक्सटेंशन कोर्सेज़' में, जो बहुत साल से चलते आ रहे हैं, हिन्दी का अब समावेश हो रहा है। जैसे-जैसे नये बसने वालों के बच्चे बड़े हो रहे हैं, हिन्दी और दूसरी भारतीय भाषाओं की स्कूली शिक्षा की मांग सुनाई देने लगी है। कुछ ऐसे विकास-क्रम से हिन्दी भाषा यूनाइटेड किंगडम में अपना एक समुचित स्थान अवश्य ही अपनायेगी, और हिन्दी के अध्ययन-अध्यापन की पहुंच इसके अनुसार ही विकसित हो पायेगी।

आशा है, ऊपर के विवरण से ब्रिटेन में हिन्दी के अध्ययन की स्थिति कुछ स्पष्ट हो जाती है। आजकल इस देश के लोगों को भारत की आम जानकारी की सामग्री पर्याप्त मात्रा में मिल सकती है। हिन्दी की पढ़ाई विकसित हो रही है। आखिर क्या कहूं, विद्यार्थियों के लिए ऐसी आशा ज़रूर व्यक्त करूं कि हर पीढ़ी में किसी-किसी में हिन्दी के प्रति सूरदास के तोते का-सा भाव पैदा हो जायेगा :

ज्यों शुक सेंवर फूल विलोकत जात नहीं बिन खाये। □

नेहरूजी और शेरो-शायरी

एक बार नेहरूजी की कोठी पर शेरो-शायरी की महफिल जमी, जिसमें उर्दू के प्रसिद्ध शायर 'हज़रत', अली सरदार जाफ़री, 'बेकल', 'फ़िराक़' आदि उपस्थित थे। शेरो-शायरी का जब पहला दौर समाप्त हो गया, तब नेहरूजी से पूछा गया कि क्या शायरों से दूसरी बार पढ़ने को भी कहा जाए?

नेहरूजी ने अनुमति दे दी। सरदार ज़ाफ़री अपनी रचना सुनाने मसनद पर बैठे। शायर जानते थे कि सरदार ज़ाफ़री की नज़्में प्रायः लंबी होती हैं, इसलिए उनके बैठते ही 'फ़िराक़' साहब उन्हें छेड़ते हुए बोले, "देखना, अधिक ज़ोर न पड़े!"

नेहरूजी, जो अब तक चुपचाप बैठे थे, एक झटके से बोले, "किस पर? सुनने वालों पर या सुनानेवालों पर?"

'फ़िराक़' साहब तपाक से बोले, "बस, अब यह भेद न खुलवाइए।"

उनका इतना कहना था कि सब ओर हंसी की लहर दौड़ गयी।

इटली में हिन्दी

प्रो० एंजो तुर्बियानो

□ □

इटली में हिन्दी की वर्तमान स्थिति निस्संदेह अच्छी नहीं। इसके अनेक कारण हैं। यहां की सभ्यता पूर्णरूप से पश्चिमी संस्कृति के मूल्यों पर केन्द्रित है, अतः साहित्य बहुत कुछ अन्य यूरोपीय देशों एवं अमेरिका में प्रचलित विचारों का प्रतिबिम्ब है। विद्वान् भी या तो मार्क्सवादी हैं या पुरानी परम्परा के अनुयायी हैं। थोड़े ही लोग भारत के संस्कारों के बारे में कुछ सीखने को उत्सुक हैं। दो-चार विश्वविद्यालयों में संस्कृत भाषा तथा वाङ्मय के प्राध्यापक तो हैं, किन्तु विद्यार्थियों की संख्या सीमित है। ट्यूरियन और रोम के संस्कृत विभाग उत्तम काम कर रहे हैं। हिन्दी व्यवस्थित प्रकार से केवल दो विश्वविद्यालयों में पढ़ाई जाती है, अर्थात् वेनिस और नेपेल्स में। वेनिस में हिन्दी के प्राध्यापक डा० लक्ष्मणप्रसाद मिश्र हैं, जो जबलपुर से सन् 1959 में इटली पधारे थे, जबकि नेपेल्स में हिन्दी के दो शिक्षक हैं: डॉ० नर्देल्ला और डॉ० श्याम-मनोहर पाण्डेय, जो सूफी मत और निर्गुण काव्य के प्रसिद्ध मनीषी हैं।

सितम्बर, 1978 में मैंने अनेक विश्वविद्यालयों में जाकर कई विद्वानों से साक्षात्कार किया था, जो भारत के धर्म एवं इतिहास को रुचिकर और महत्त्वपूर्ण मानते हैं। उनकी दृष्टि में भारतीय चिन्तन श्रेष्ठ तथा सर्वोच्च है। वे मानते हैं कि भारतवर्ष का अध्यात्मवाद इस दुःख-पूर्ण युग के संकटों को अंशतः दूर कर सकेगा।

उनके साथ हिन्दी के प्रचार-संबंधी समस्याओं पर विस्तृत बातचीत हुई तो पता चला कि हिन्दी की स्थिति इटली में सन्तोषजनक नहीं है जिसके तीन मुख्य कारणों का पता चला। पहला यह कि राष्ट्रभाषा के विषय में भारत में भी वादविवाद हुआ करते हैं; उदाहरणार्थ, तमिलनाडु और पश्चिमी बंगाल में हिन्दी के विरुद्ध वातावरण है। फलस्वरूप यहां के छात्र और प्रज्ञाशील जन विचारने लगे हैं कि जब तक भारत की राजभाषा के बारे में कोई निश्चित स्थिति नहीं बनती, तब तक अंग्रेज़ी पढ़ते रहेंगे, इसीलिए कि हिन्दुस्तान के प्रत्येक राज्य में यह विदेशी बोली प्रचलित है। दूसरा कारण यही है कि आज के विद्यार्थी प्रायः परिश्रम की ओर प्रवृत्त नहीं हैं। वे तो मानते हैं कि नागरी लिपि बहुत कठिन है, क्योंकि वे अधिकतर लैटिन अक्षरों में लिखी हुई भाषाओं से परिचित हैं। छात्रगण अनुमान करते हैं कि हिन्दी का व्याकरण जटिल और दुर्बोध है; यदि वे श्री सुनीतिकुमार चटर्जी (चट्टोपाध्याय) कृत 'इंडो-आर्यन एंड हिन्दी' पुस्तक पढ़ते तो शीघ्र ही समझ जाते कि हिन्दी सरल एवं प्राकृतिक भाषा है, जो विश्व-भाषा के सब लक्षणों एवं गुणों से युक्त है।

तीसरा कारण यह है कि इस देश के लोग हिन्दी साहित्य के संबंध में अल्पज्ञ हैं। मेरे

मतानुसार यदि ब्रज और अवधी के अमर ग्रन्थों के अनुवाद (टीकाओं के साथ) किये जायें, तो इटली में भी हिन्दी के लिए कदाचित् उज्ज्वल भविष्य हो, किन्तु यह कार्य असंभव है, क्योंकि भाषा-विज्ञान के इस क्षेत्र में विशेषज्ञ प्रायः नहीं मिलते। इसके अतिरिक्त पाठ्य पुस्तकों की न्यूनता हिन्दी पढ़ाने की समस्या को और भी दुष्कर बनाती है। सचमुच, इतालवी भाषा में लिखित केवल एक व्याकरण प्राप्य है जिसके लेखक प्रो० लक्ष्मणप्रसाद मिश्र हैं। यह सन् 1969 में इलाहाबाद में छपा था, किन्तु इस समय अलभ्य है। फलतः हिन्दी की उन्नति के लिए पाठ्य पुस्तकें उपलब्ध कराना चाहिए।

सन् 1976 में इटली और भारत की सरकारों ने सांस्कृतिक समझौता किया था, पर अब तक इसके आधार-नियम लागू नहीं किये गये हैं। भारत और इटली के बीच सांस्कृतिक सम्पर्क एवं पारस्परिक सद्भावना बढ़ाने और सुदृढ़ करने के लिए आदान-प्रदान के कार्यक्रम महत्त्वपूर्ण हैं; यदि यहां के हिन्दी-विद् शिक्षक भारत के विश्वविद्यालयों को और अन्य संस्थाओं को देखने जायें, तो हमारी दोनों संस्कृतियों में सामीप्य स्थापित होगा।

भारत के नवीन तथा पुराने आध्यात्मिक मूल्यों को समझने के लिए हिन्दी का अनुशीलन अनिवार्य ही है, किन्तु जब तक इस देश के अध्यापकों और विद्यार्थियों को हिन्दी पढ़ने के लिए कोई सहायता नहीं दी जायेगी, तब तक हिन्दी का विकास संभव न होगा। यदि कार्यसाधक उपाय न होंगे, तो हिन्दी का प्रचार कठिन बन जायेगा। साहित्यिक सम्मेलन, विचार-गोष्ठियां और प्रदर्शनियां हिन्दी की श्रीवृद्धि के लिए अवश्य महत्त्वपूर्ण योगदान कर सकती हैं, किन्तु आवश्यक है कि इनका आयोजन अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर हो। साथ ही, शिक्षण एवं पाठ्य सामग्री का निर्माण करने से विदेश में भी हिन्दी का प्रसार सुगमतर हो जायेगा। मेरी दृष्टि में यदि ऐसे कार्यक्रम आयोजित होंगे तो हिन्दी का भविष्य सारे संसार में उज्ज्वल होगा। □

एक घर में दो नहीं

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर के भतीजे सौम्येन्द्र बाबू को एक बार अजीब शौक लगा। उन्होंने कहा, "मैं कोई ऐसी चीज पालूंगा, जिसे पहले किसीने न पाला हो।" अगले ही दिन उन्होंने पिंजरे में एक उल्लू लाकर बैठक में सजा दिया। उनकी पत्नी इससे परेशान हो उठीं। रात में उल्लू की भयानक आवाज़ से वे कांप उठतीं। उन्होंने सौम्येन्द्र बाबू से उल्लू को हटाने की बड़ी अनुनय-विनय की, पर सब व्यर्थ। हार मानकर उन्होंने गुरुदेव से शिकायत की। शिकायत सुनकर गुरुदेव बोले, "अच्छा, हम सोचेंगे।"

कुछ दिन बाद गुरुदेव सौम्येन्द्र बाबू के घर आ पहुंचे। बिना इधर-उधर देखे वे पिंजरे तक गये और एकदम मुड़कर लौट पड़े। आश्चर्यचकित हो सौम्येन्द्र बाबू उनके पीछे-पीछे फाटक तक आये। फाटक पर पहुंचकर गुरुदेव अचानक रुके और नाटकीय ढंग से उनकी ओर मुड़कर बोले, "सोम्येन्द्र !"

"हां, काका !"

"इस घर में दो उल्लू नहीं रहेंगे। एक ही रहेगा," कहकर वे चल दिये।

अंधेरा होते ही सौम्येन्द्र बाबू ने पिंजरे का दरवाज़ा खोल दिया।

पहला जर्मन-हिन्दी शब्दकोश

डा० मार्गोत गाह्त्सलाफ़

□ □

यह शब्दकोश उन प्रयासों की शृंखला की ही एक कड़ी है जो जर्मन जनवादी गणतंत्र में हिन्दी भाषा के क्षेत्र में किये जा रहे हैं क्योंकि यह जर्मन-हिन्दी शब्दकोश इस द्विभाषा में प्राथमिक प्रयास है। इस प्रकार वह भारतीय विद्या की उस प्रगतिशील जर्मन परंपरा में प्रवेश कर लेता है जिसके लिए लाइपज़िग विश्वविद्यालय, अन्य जर्मन विश्वविद्यालयों की भांति, पिछली शताब्दी से विश्वविख्यात है। यह परंपरा जर्मन जनवादी गणतंत्र में ऊंचे स्तर पर, अर्थात् मार्क्सवादी-लेनिनवादी आधार पर चलकर अधिक विकसित होती जा रही है, क्योंकि जर्मन जनवादी गणतंत्र के भारतीय विद्याविद् पुराने एवं आधुनिक भारत का अनुसंधान विश्वशांति, राष्ट्रों की मित्रता तथा विज्ञान की प्रगति की सेवा के रूप में कर रहे हैं। इसपर शासन की ओर से ज़ोर तब दिया गया जब ज० ज० ग० के सांस्कृतिक मंत्री श्री क्लाउस गीजी ने 1973 के आरंभ में भारत गणराज्य तथा जर्मन जनवादी गणतंत्र के बीच निर्धारित की गई सांस्कृतिक संधि पर हस्ताक्षर करते हुए घोषणा की कि "जर्मन जनवादी गणतंत्र की हार्दिक इच्छा है कि वे बहुभुजीय संबंध, जो भारतीय विद्या के क्षेत्र में भी उपस्थित हैं, जारी रखकर अधिक गंभीर बनाये जाएं।" भारत और ज० ज० ग० के बीच में जो बढ़ते जाते राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं खेल-कूद के संबंध हैं वे राजनयिक संबंधों की सन् 1972 में हुई स्थापना के बाद से और अधिक विकसित होते जा रहे हैं। इसे सामने रखकर तुलना करें तो जर्मन-हिन्दी भाषा के मेल के लिए पाठ्य सामग्री की कमी का विशेष अनुभव किया जा रहा है। नया जर्मन-हिन्दी शब्दकोश इस अभाव की पूर्ति में सहायता देकर भारत और ज० ज० ग० के मध्य मैत्रीपूर्ण संबंधों की सेवा में अपना स्थान ले लेगा, ऐसी आशा है।

सन् 1960 से लाइपज़िग के कार्ल मार्क्स विश्वविद्यालय में हिन्दी की ओर पहले से अधिक ध्यान दिया जा रहा है। द्विभाषी विद्यार्थियों और अर्थशास्त्र के विद्यार्थियों को हिन्दी भाषा पढ़ाने के साथ-साथ अध्ययन का केन्द्रीयकरण पाठ्य सामग्री की तैयारी पर किया गया है। इस संबंध में मैंने लाइपज़िग के कार्ल मार्क्स विश्वविद्यालय में ही जर्मन में लिखा गया हिन्दी का प्राथमिक एवं विस्तृत व्याकरण तैयार किया है। लेकिन विद्यार्थियों को पढ़ाते समय विशेषकर शब्दकोश का अभाव बाधक रहा, इसलिए इस सद्यः प्रकाशित जर्मन-हिन्दी शब्दकोश का प्रारंभ किया गया। इस कोश के लिए सामग्री इकट्ठी करने का काम तब होने लगा जब मैं 1962 से 1964 तक शिक्षा प्राप्त करने के लिए दो वर्ष भारत में रही। इसके पश्चात् कई वर्षों तक शब्दकोश का काम साधारण गति से चलता रहा फिर इसके प्रकाशित होने से पहले अंतिम दो वर्षों में इसे ज़ोर से आगे बढ़ाया गया।

परंपरा के अनुसार यह शब्दकोश लाइपज़िग के एन् साइक्लोपीडिया प्रकाशन गृह से निकल गया जो भाषांतरीय पाठ्य सामग्री प्रकाशित करने में बहुत अनुभवी है। इस प्रकाशन गृह द्वारा जर्मन शब्दों के लिए तैयार और कई बार संशोधित की गयी सामग्री का लाभ उठाया गया जिससे जर्मन-हिन्दी शब्दकोश का काम अधिक सहज बन गया तथा इसको संकलित करने का समय भी हल्का हो गया। प्रकाशन गृह की इस सामग्री में लगभग बारह हज़ार जर्मन शब्द सम्मिलित हैं जिनके लक्षण निम्नलिखित तथ्यों से बतलाये गये हैं :

—आधारित अक्षर पर चिह्न,

—संदिग्ध स्थितियों में एसोसिएशन फोनेटिक इंटरनेशनल के नियमों के अनुसार लिप्यंतरण,

—संज्ञाओं एवं क्रियाओं के विशेष तालिकाओं में दिये गये निर्देश।

इन निर्देशों से हिन्दी भाषी प्रयोगकर्ताओं को जर्मन भाषा सीखने में मूल्यवान सहायता मिलेगी। इसके अतिरिक्त मैंने पंद्रह हज़ार शब्द वाले कोशों के लिए इसी प्रकाशन गृह से तैयार की गयी नई सामग्री को भी देखा पर इसके व्याकरणिक निर्देश प्रकाशन गृह द्वारा नहीं दिये गये थे। इसमें मैंने अपने विचारानुसार अनुपूरक शब्द समाविष्ट किये। इस तरह सोलह हज़ार से कुछ अधिक जर्मन शब्द कोश में सम्मिलित हुए जिनका अनुपूरण अनेक मुहावरों द्वारा किया गया। परंतु कोश के सीमित आकार ने कहावतों के समावेश पर बड़ी पाबंदियां लगा दीं। शब्दकोश प्रथमतः व्यावहारिक मांग की पूर्ति करना चाहता है इसलिए इसमें दैनिक जीवन के सामान्य शब्दों के अतिरिक्त सामाजिक-राजनीतिक क्षेत्रों, सामाजिक विज्ञानों एवं प्राकृतिक विज्ञानों तथा टैक्नालॉजी (प्रौद्योगिकी), अर्थव्यवस्था और खेलकूद के बहुत-से पारिभाषिक शब्द सम्मिलित किये गये हैं। यद्यपि इन क्षेत्रों में भी प्रतिबंधों का सामना करना पड़ा है। हिन्दी के समानार्थकों को ध्यान में रखकर जर्मन शब्दों के प्रयोग-क्षेत्र के बारे में अनेक निर्देश जोड़ दिये गये हैं। इसके अतिरिक्त इसमें अधिक महत्त्वपूर्ण भौगोलिक शब्द भी रखे गये हैं, उदाहरणार्थ, यूरोप के राष्ट्र, इनके रहने वाले और इनसे व्युत्पन्न विशेषण। पृथ्वी के अन्य देशों में से केवल उनके अधिकृत नाम दिये गये हैं। शब्दकोश में सभी सोवियत समाजवादी प्रजातंत्रों के, भारत गणराज्य के सभी राज्यों तथा पृथ्वी के, विशेषकर ज. ज. ग. और भारत के महत्त्वपूर्ण नगरों, नदियों एवं पर्वतमालाओं के नाम भी दिये गये हैं। इस आकार के शब्दकोशों के नियम के अनुसार भौगोलिक नाम विशेष परिशिष्ट में नहीं बल्कि शब्दकोश के मुख्य भाग में ही रखे गये हैं। परंतु अधिक स्पष्टता की दृष्टि से परिशिष्ट में संख्यावाचक विशेषण उपस्थित हैं जिनमें से कुछ शब्दकोश के मुख्य भाग में एक बार और सम्मिलित किये गये हैं। ये हैं—एक से बीस तक सब संख्याएं; दशकों एवं शतकों के नाम, हज़ार, लाख, दस लाख, करोड़ एवं सौ करोड़ (मिलियर्ड) तथा क्रमवाचक संख्याओं में से पहले से छठे तक सब।

जर्मन शब्दों के हिन्दी समानार्थक शब्द स्थिर करने के काम में मेरे लिए हिन्दी की वह जानकारी बहुत लाभदायक रही जो मैंने लेनिनग्राद और मास्को में छह वर्षीय पढ़ाई-लिखाई में प्राप्त करने के बाद भारत में दो वर्ष रहकर और अधिक बढ़ायी तथा लाइपज़िग के कार्ल मार्क्स विश्वविद्यालय में दीर्घकालीन अध्यापन द्वारा सबल बना ली। शब्दकोश तैयार करने में हिन्दी के समाचारपत्रों का और ललित एवं वैज्ञानिक साहित्य की रचनाओं का अध्ययन काम में आया। इसके अतिरिक्त आदर्शभूत शब्दकोशों से, विशेषकर भारतीय एवं सोवियत शब्दकोशों से, लाभ उठाया गया। संदिग्ध विषयों के बारे में डॉ० रघुनन्दन प्रसाद, अर्जुन जगोता और विजय विक्रम चौधरी ने मैत्रीपूर्ण परामर्श एवं निर्देश दिये। फिर भी विशेषकर तकनीक एवं अन्य वैज्ञानिक पारि-

भाषिक शब्दों के अनुवाद करने में कठिनाइयां सामने आयीं क्योंकि पुरानी औपनिवेशिक स्थिति में दबाये गये अन्य राष्ट्रों की भाषाओं की भांति इस क्षेत्र में भी हिन्दी का शब्द-भंडार हाल के वर्षों में तेज़ी से विकसित हो रहा है जो अभी तक अंतिम मानकों की स्थापना पर नहीं पहुंचा है। अभी यह स्थिति अस्पष्ट ही है कि जो अंग्रेज़ी पारिभाषिक शब्द इस समय प्रचलित हैं उनका प्रयोग भविष्य में चलता रहेगा या उनका स्थान स्वभाषा के शब्द ले लेंगे। अवश्य, दोनों प्रवृत्तियां बनी रहेंगी इसमें कोई आपत्ति नहीं। उदाहरणार्थ अंग्रेज़ी शब्द 'रेलवे' का स्थान अभी स्वभाषा के किसी शब्द से नहीं लिया जायेगा। परंतु दूसरी ओर अंग्रेज़ी शब्दों के साथ-साथ स्वभाषा के शब्द चल रहे हैं जो बढ़ती राष्ट्र-चेतना से अधिकाधिक अपने लिए रास्ता तैयार करते जाएंगे। उदाहरण के रूप में, हिन्दी का शब्द 'विश्वविद्यालय' लिया जाये जिसके साथ अभी तक अंग्रेज़ी का शब्द 'यूनिवर्सिटी' प्रचलित था लेकिन अब इस समय हिन्दी में 'यूनिवर्सिटी' शब्द का प्रयोग कम होता जा रहा है, इस कारण से मैं समझती हूं कि अलग शब्दों के लिए इस समय यह निश्चय कर लेना कठिन है कि भविष्य में उनके लिए इस शब्दकोश में दिये गये अंग्रेज़ी पर्यायों में से हिन्दी शब्द ही उठकर अपने लिए रास्ता तैयार करेंगे या नहीं।

नियमत: हरेक जर्मन शब्द के लिए हिन्दी के सबसे अधिक प्रचलित पर्यायों में से तीन से अधिक नहीं दिये गये हैं। यह सब होते हुए भी वे अपनी प्रयोग-बहुलता के क्रम से रखे गये हैं। जब पहले आये दोनों शब्दों की प्रयोग-बहुलता लगभग समान लगी है तब हिन्दी का अपना शब्द अंग्रेज़ी, अरबी या फ़ारसी भाषा से आये हुए शब्द से पहले रखा गया है। उदाहरण के लिए, 'फ़ारप्लान' का 'समय-सारणी' (हिन्दी) और 'टाइम-टेबल' (अंग्रेज़ी) के नाम लिए जायें।

हिन्दी शब्द-भंडार का यह सीमाबंधन शब्दकोश का प्रयोग सुसाध्य बना देगा। क्योंकि बहुत-से अन्य शब्दकोशों में मिलने वाले पर्यायों का संचय ही एक ऐसा तत्त्व है जो प्रयोगकर्ताओं को भ्रम में डालता है। यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि हरेक जर्मन शब्द के लिए कम से कम एक हिन्दी समानार्थी शब्द दिया गया है। विशिष्ट (टिपिकल) यूरोपियन शब्दों के लिए समानार्थी देने के बाद गोल कोष्ठक में कुछ व्याख्या भी दी गयी है, उदाहरण के लिए 'शेंपेन' (एक प्रकार की झागदार शराब)।

कोश का आकार सीमित होने की वजह से हिन्दी शब्दों का रोमन लिप्यंतरण एवं उनके आघातसूचक चिह्न नहीं दिये गये हैं। लेकिन इनके सामान्य नियम पूर्वकथित 'हिन्दी व्याकरण' में मिलते हैं जिसको मैंने कई वर्ष पहले प्रकाशित किया था।

हिन्दी शब्दों का व्याकरणिक विवरण भी दिया गया है जबकि मुहावरों, कहावतों इत्यादि का नहीं। संज्ञाओं के लिंग का भी साथ-साथ उल्लेख कर दिया गया है। संज्ञा का लिंग अस्थिर होने पर उसका भी उल्लेख किया गया है, जैसे जिसका प्रयोग स्त्रीलिंग एवं पुल्लिग दोनों में होता है। अगर कोई शब्द केवल बहुवचन में प्रचलित है तो यह भी लिखा गया है, जैसे Leute 'लोग' Mpl (पुल्लिग बहुवचन)। यही बात पुल्लिग की संज्ञाओं और विशेषणों के साथ भी लागू होती है जिनका अंत-प्रत्यय '—आ' विभक्ति जोड़ते समय नहीं बदलता, उदाहरणार्थ : (Redner 'वक्ता' Munv (पुल्लिग अपरिवर्तित), fortschrittlich Pol 'तरक्कीयाफ़्ता' unv (अपरिवर्तित)।

हिन्दी क्रियाओं के बारे में यह भी बताया गया है कि वे सकर्मक हैं या अकर्मक। जिन सकर्मक क्रियाओं के साथ परसर्ग 'ने' का प्रयोग नहीं होता उनके साथ tro hne Erg (सकर्मक, साधक कारक के बिना) लिखा गया है। ये क्रियाएं हैं : vergessen 'भूलना', sprechen 'बोलना', schwatzen 'बकना', bringen 'ले आना' आदि। प्राय: अन्य शब्दकोशों में ये क्रियाएं

अकर्मक ठहराई जाती हैं, यद्यपि इन क्रियाओं से कर्मवाचक बनता है तथा वे उक्त कर्मों का नियंत्रण करती हैं। जिन क्रियाओं के साथ परसर्ग 'ने' का प्रयोग ऐच्छिक है उनका व्याकरणिक विवरण इसी भांति किया गया है। इन क्रियाओं में हैं: verstehen, begreifen 'समझना', siegen, besiegen 'जीतना', lernen, studieren 'सीखना'। इनके पीछे tr mit fak Erg (सकर्मक, साधक कारक, प्रयोग ऐच्छिक) लिखा गया है। इस प्रकार कोश के जर्मन प्रयोगकर्त्ताओं के लिए हिन्दी शब्दों का सही व्याकरणिक प्रयोग सीख लेना संभव हो गया है।

शब्दकोश में जर्मन एवं हिन्दी भाषाओं की भिन्न संरचना की ओर भी ध्यान दिलाना पड़ा है। इसलिए मुहावरों में यह भी लिखा गया है कि इनमें कौन-कौन से परसर्ग का प्रयोग होता है। उदाहरणार्थ—vorsingen 'गाना' (Imdm. किसी के लिए etw. कुछ)। यह नामजात क्रियाओं के लिए अधिक आवश्यक है क्योंकि जब ऐसी क्रिया सकर्मक है तो जर्मन के उक्त कर्म के लिए हिन्दी में किसी परसर्ग के साथ कुछ वाक्यांश बनाना है जिसमें हिन्दी नामजात क्रिया की संज्ञा उक्त कर्म का स्थान लेती है, उदाहरणार्थ: organisieren 'प्रबंध' या 'आयोजन' या 'इंतिज़ाम करना' (etw. का), जैसे eine versammlung organisieren 'मीटिंग का प्रबंध करना', fegen 'झाड़ू देना' (etw.) जैसे die Strasse fegen 'सड़क पर झाड़ू देना'।

हिन्दी का अकर्मक नामजात क्रियाओं में उद्देश्य का भिन्न गठन भी सूचित करना आवश्यक है क्योंकि यहां नामजात क्रियाओं की संज्ञा वाक्यांशों में उद्देश्य बन जाती है जबकि जर्मन उद्देश्य इसी हिन्दी वाक्यांश में किसी परसर्ग के साथ आता है। उदाहरणार्थ: verzo gern. sich 'विलंब होना', 'देर लगना' (etw. में) जैसे, die Ablahrt vero gerte sich 'रवानगी में विलंब हुआ' या 'रवानगी में देर लग गयी'।

मुझे आशा है कि मेरे द्वारा तैयार किया गया यह शब्दकोश हिन्दी बोलने और समझने में जर्मन-भाषियों के लिए लाभदायक सहायक साधन के रूप में सिद्ध होगा। इससे बढ़कर वह हिन्दी-भाषी प्रयोगकर्त्ताओं के लिए भी एक ऐसे अनुकूल तथा विश्वसनीय संदर्भ-ग्रंथ का काम करेगा जो उनके लिए जर्मन-भाषा सीखने एवं समझने को सुसाध्य बना दे। इस अर्थ में शब्दकोश हिन्दी भाषा को नये मित्र उपलब्ध करायेगा, ज. ज. ग. तथा भारत गणराज्य के मध्य बढ़ रहे मैत्रीपूर्ण संबंधों को अधिक सुदृढ़ बना देगा एवं ज. ज. ग. में, विशेषकर लाइपज़िग के कार्ल मार्क्स विश्वविद्यालय में, भारतीय विद्या की प्रगतिशील परंपरा को जारी रखने में अपना योगदान देगा।

उक्त शब्दकोश इस क्षेत्र में खोजकार्य का आरंभ ही है। लेकिन मैं मानती हूं कि इस शब्दकोश का परिमाण सीमित है। इस समय नये शब्दकोश का संकलन किया जा रहा है जिसके दो भाग होंगे—हिन्दी-जर्मन और जर्मन-हिन्दी। हरेक भाग में पैंतालीस हज़ार प्रविष्टियां आयेंगी। यह नया और अधिक विस्तृत शब्दकोश जर्मन जनवादी गणतंत्र तथा भारत गणराज्य का संयुक्त कार्य होगा क्योंकि इसके संकलन में ज. ज. ग. के अनेक विद्वान् और भारत गणराज्य के अनेक हिन्दी विद्वान् भाग ले रहे हैं। यह शब्दकोश बनाने की योजना हमारे दोनों देशों के बीच स्वीकृत हुए सांस्कृतिक समझौते में सम्मिलित की गयी है। इस तरह शब्दकोश का कार्य सदैव गतिशील रहेगा और समय के परिवर्तन के साथ अधिक ऊंचे स्तर पर पहुंचेगा। □

जापान : सांस्कृतिक एकता और भारतीय भाषाएं

प्रो० क्यूया दोइ

□ □

जब रवींद्रनाथ ठाकुर की 'गीतांजलि' नोबल पुरस्कार से सम्मानित हुई तो विश्व-भर के बहुत-से लोगों को इन कविताओं का पाठ मूल बंगाली भाषा में करने की इच्छा हुई। इसके फलस्वरूप संसार में बंगाली भाषा का अध्ययन अधिक होने लगा।

दो देशों के बीच यदि इस प्रकार के प्रेरक तत्त्व हों तो उनमें सांस्कृतिक अथवा आर्थिक आदान-प्रदान एकदम बढ़ जाता है। भारत से जापान को इस प्रकार की प्रेरणा मिली छठी शताब्दी में। यह प्रेरणा भारत से सीधे न आकर चीन से होते हुए आयी थी। वह प्रेरक तत्त्व बौद्ध धर्म था। बौद्ध धर्म पहले उच्च वर्ग के लोगों में स्वीकृत हुआ और धीरे-धीरे जनता में फैल गया। बहुत-से बौद्ध श्रमण बौद्ध धर्म के उच्च अध्ययन के लिए भारत जाना चाहते थे पर उस समय भारत अत्यंत दूरस्थ देश था। जापानियों के लिए चीन जाना भी बहुत कठिन था, भारत पहुंचना तो असंभव ही लगता था।

9वीं शताब्दी में कूकाई नामक एक बौद्ध श्रमण जापान से चीन गये। वहां उन्होंने तांत्रिक बौद्ध धर्म के साथ-साथ सिद्धमातृका लिपि तथा संस्कृत व्याकरण का अध्ययन किया। उसी समय से जपान में संस्कृत का अध्ययन आरम्भ हुआ। ठीक उसी समय जापानी लिपि का विकास भी हो रहा था। जापानी वर्णमाला का वर्णक्रम संस्कृत वर्णमाला के अनुकरण पर बनाया गया। इस प्रकार भारत और जापान का सीधा संबंध भाषा के अध्ययन के रूप में स्थापित हुआ। पर उस समय के लोग केवल यांत्रिक अध्ययन करते रहे; अर्थात् वे एक-एक अक्षर का अध्ययन करते थे, संस्कृत व्याकरण का नहीं। इसीलिए उस समय के अध्ययन को सिद्धमातृका विद्या कहते हैं न कि संस्कृत विद्या। एदो काल (1590-1850) में सिद्धमातृका विद्या का अध्ययन शिथिल पड़ गया क्योंकि उस समय चीनी दर्शन तथा जापानी भाषा के अध्ययन पर अधिक बल दिया गया।

जापान का नवयुग मेइजि क्रांति (1868) से आरंभ होता है। उस समय यूरोप में संस्कृत, पाली, भारतीय दर्शन तथा बौद्ध धर्म का नया अनुशीलन-अनुसंधान बहुत ज़ोरों से हो रहा था। आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में मैक्स म्यूलर प्राध्यापक थे। जापान के कुछ बौद्ध संप्रदायों का ध्यान उस नयी विद्या की ओर आकर्षित हुआ और कई नवयुवकों को आक्सफोर्ड भेजा गया। उन नवयुवकों में डॉ० जे० ताकाकुसु का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने मैक्स म्यूलर के अधीन संस्कृत, पाली, बौद्ध धर्म, भाषा-विज्ञान आदि का अध्ययन किया। 1899 में 34 वर्ष की आयु में वे तोक्यो विश्वविद्यालय के भाषा-विज्ञान विभाग के प्राध्यापक नियुक्त हुए। उनसे और उनके शिष्यों से भाषा-विज्ञान, संस्कृत भाषा व साहित्य, भारतीय दर्शन तथा बौद्ध धर्म के नये

वैज्ञानिक अध्ययन की परंपरा आरंभ हुई। विशेषकर बौद्ध धर्म के अध्ययन में संस्कृत और पाली में लिखित मूल सूत्रों तथा चीनी में अनूदित सूत्रों के तुलनात्मक अध्ययन जैसी जापान की अपनी विशिष्ट अनुशीलन पद्धति का आविर्भाव हुआ। परंतु हमें यह खेद के साथ स्वीकार करना पड़ेगा कि नवयुगीन अध्ययन की इस नयी पद्धति की प्रेरणा भी सीधे भारत से न आकर यूरोप से आयी थी।

डॉ० जे० ताकाकुसु सन् 1900 से 1908 तक तोक्यो विदेशी भाषा अनुसंधान कॉलेज के अध्यक्ष भी रहे। उनके प्रयत्न से 1908 में हिंदुस्तानी और मलय भाषा विभाग खोले गये। उसी समय से आधुनिक भारत के अध्ययन का द्वार भी खुला। विदेशी भाषा अनुसंधान कॉलेज के स्नातक लोग नव जापान के निर्माण में बहुत सक्रिय थे। सच कहें तो नयी शैली के जापानी साहित्य का विकास उन्हीं लोगों के प्रयत्नों से संभव हुआ। हिंदुस्तानी विभाग भी आरंभ में बहुत सक्रिय था। इस विभाग के अध्यापकों में कुछ लोग तो भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन से भी संबंधित थे।

20वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध भारत व जापान के लिए टैगोर व गांधी का युग था। 1902 में जापान के ललित कला कॉलेज के अवकाशप्राप्त अध्यक्ष श्री तेन्शिन ओकाकुरा भारत-भ्रमण के लिए गये। कलकत्ता में वे विवेकानंद तथा रवीन्द्रनाथ ठाकुर से मिले और मिलते ही दोनों के अच्छे मित्र बन गये। तेन्शिन कुछ समय तक ठाकुर परिवार के अतिथि भी रहे और वहां बहुत से नवयुवकों के साथ विचार-विनिमय करते रहे। इस वाद-विवाद तथा भाषण के फलस्वरूप उनकी तीन पुस्तकें 'प्राच्य का आदर्श' (1902), 'जापान की जागृति' (1904), तथा 'चाय की पुस्तक' (1906) अंग्रेज़ी में प्रकाशित हुईं। इन पुस्तकों का भारतीय लोगों पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा। दूसरी ओर, रवीन्द्रनाथ 1916, 1922 तथा 1929 में जापान पधारे और विद्यार्थियों द्वारा उनका भव्य स्वागत किया गया। उनकी कृतियों का अनुवाद तथा टैगोर साहित्य पर लेख आदि प्रकाशित हुए। उनके कुछ नाटकों का मंचन भी हुआ।

महात्मा गांधी जापान तो नहीं पधारे पर उनका नाम बहुत प्रचारित हुआ। वे आदर्श पुरुष माने गये और उनके सत्याग्रह आदि पर जापानी में पुस्तकें प्रकाशित हुईं। उनका नाम जापान में इतना लोकप्रिय हुआ कि एक सज्जन अपने-आपको गांधी कहकर संसद के चुनाव में खड़े हुए थे। पर यह जोश धीरे-धीरे शिथिल हो गया।

वास्तविक स्थिर सांस्कृतिक विनिमय दूसरे महायुद्ध के बाद ही आरंभ हुआ।

1951 से भारत सरकार ने प्रति वर्ष 3 जापानी विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति देकर भारत में अध्ययन की सुविधा दी। इस कार्यक्रम से बहुत-से जापानियों को बड़ा लाभ हुआ। मुझे विशेष प्रसन्नता इस बात पर हुई कि संस्कृत के विद्यार्थियों को भारत के पंडितों से सीधा संपर्क स्थापित करने का अवसर मिला। उस समय तक के संस्कृत के विद्यार्थी उस भाषा को मृत भाषा समझकर उच्चारण पर ध्यान न देते तथा नागरी लिपि की बिलकुल अवज्ञा करते थे। पर अब स्थिति बदली है।

आधुनिक भारत की भाषाओं के अध्ययन में भी नयी लहर आयी। तोक्यो और ओसाका के विदेशी भाषा अनुसंधान विश्वविद्यालयों के हिन्दुस्तानी विभागों में केवल उर्दू ही सिखायी जाती थी। पर 1959 में तोक्यो में तथा दूसरे वर्ष ओसाका में हिन्दी विभाग खोले गये। 1966 में दोनों विश्वविद्यालयों में हिन्दी का एम० ए० पाठ्यक्रम भी आरंभ किया गया। भाषा हर प्रकार के अध्ययन की नींव होती है। नींव महत्त्व का काम करती है, पर अपना मुंह नहीं दिखाती। 1960 के आसपास अर्थशास्त्र, राजनीति, समाजशास्त्र, इतिहास, मानवशास्त्र, भूगोल आदि के

जापानी विशेषज्ञ भारत की ओर विशेष ध्यान देने लगे । वे लोग भाषा के लिए अधिक समय नहीं सकते । उन लोगों के लिए कभी-कभी अल्प समय में हिन्दी, उर्दू, बंगाली, मराठी, तमिल, कन्नड़ आदि भारतीय भाषाएं सिखाने का पाठ्यक्रम आयोजित किया जाता है और तोक्यो तथा क्योतो विश्वविद्यालयों में सप्ताह में एक बार हिन्दी सिखाने का प्रबंध भी है। इस प्रकार भारतीय भाषाओं का थोड़ा-बहुत ज्ञान रखने वालों की संख्या धीरे-धीरे पर सुस्थिर रूप से बढ़ती जा रही है। उधर भारत में जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, दिल्ली तथा विश्वभारती विश्वविद्यालय में जापानी भाषा के अध्ययन एवं अनुसंधान का प्रबंध है । कलकत्ता और बम्बई में भी जापानी भाषा सिखायी जा रही है । अभी हाल में, जब भारतीय विदेश मंत्री महोदय जापान पधारे तो दिल्ली विश्वविद्यालय की श्रीमती सावित्री ने बहुत अच्छी तरह दुभाषिये का काम सम्पन्न किया । इस प्रकार, जब आवश्यकता पड़े तो कहीं न कहीं से जापानी, हिन्दी, बंगाली, मराठी, तमिल, कन्नड़ आदि भाषाओं के दुभाषिये मिल सकते हैं । इसका अर्थ है कि दोनों देशों का सांस्कृतिक आदान-प्रदान काफी अग्रसर हो चुका है ।

1954 में वाराणसी में नागरी प्रचारिणी सभा की हीरक जयंती के अवसर पर यह प्रस्ताव किया गया था कि एशिया को समझने के लिए भाषाओं के अध्ययन पर बल देना चाहिए । यह प्रस्ताव लगभग 25 वर्ष के बाद भारत और जापान के बीच साकार होता आ रहा है। 'अतिसामीप्ये अवज्ञा' की स्थिति से एक क़दम आगे बढ़ रहे हैं हम । पर अतिसामीप्य में एक ख़तरा भी है । यदि हिन्दी और जापानी की तुलना करें तो उच्चारण में, वाक्य के गठन में बड़ी समानता है । इससे कुछ लोग समझ बैठते हैं कि जापानी या हिन्दी हमारे लिए सरल है, हम अच्छी तरह समझ गये । पर वास्तव में यह बहुत भयानक भ्रम है । ज्यों-ज्यों गहराई में जाते हैं, कठिनाई बढ़ती जाती है । इस बात पर विशेष ध्यान देकर भाषाओं का अध्ययन करना तथा साधारण लोगों के लिए सरल से सरल उपाय से दोनों देशों की भाषाएं सिखाने का प्रयत्न करना हम भाषा-विशेषज्ञों का कर्त्तव्य है । □

कहानी के चार तत्त्व

अंग्रेज़ी के विख्यात लेखक सामरसेट माम यूरोप के एक विद्यालय में कहानी लिखने की कला पर भाषण दे रहे थे । उन्होंने कहा, " यदि कहानी में चार विषयों का समन्वय कर लिया जाए तो कहानी उत्तम बन सकती है ।

" पहली बात तो यह है कि कहानी में कुछ 'ऐरिस्टोक्रेसी' (आभिजात्य) होनी चाहिए। उसके साथ होनी चाहिए थोड़ी 'डिविनिटी' (अध्यात्म) और फिर थोड़ा सेक्स और अंत में कुछ सस्पेंस (रहस्यात्मकता) ।"

माम का भाषण समाप्त होते ही एक लड़की ने खड़े होकर कहा,"माम के बताये अनुसार अभी-अभी मैंने एक कहानी लिख डाली है ।"

यह सुनकर सबने उससे कहानी सुनाने का आग्रह किया ।

उसने कहानी इस प्रकार सुनायी :

"एक राजकन्या (ऐरिस्टोक्रेसी) बोली—हे भगवन् (डिविनिटी), मैं गर्भवती हूं (सेक्स) पर मैं अपने आगन्तुक बालक के पिता का नाम नहीं बता सकती (सस्पेंस) ।"

श्रीलंका में हिन्दी

डा० दरमिटिपल रतनसार थेर

□ □

आज से लगभग तीस वर्ष पहले मैं भारत में रहकर हिन्दी भाषा का अध्ययन करके श्रीलंका लौटकर आते ही सरकार के साथ बातचीत की और यहां की परीक्षाओं में हिन्दी भाषा को भी अनिवार्य कराया। फलतः उसी समय कई सरकारी पाठशालाओं में हिन्दी भाषा पढ़ाने के लिए व्यवस्था कर दी गयी और श्रीलंका रेडियो द्वारा हर सप्ताह हिन्दी पढ़ाने का कार्यक्रम भी शुरू कर दिया गया।

हमारे देश में ज्यादातर लोग हिन्दी फिल्म देखने की इच्छा से हिन्दी भाषा पढ़ने को लालायित रहते हैं, जिससे लगभग तीस वर्ष में ही ज्यादातर लोग आज हिन्दी भाषा जानने लगे हैं और उनकी संख्या दिनोंदिन बढ़ती ही जा रही है। किन्तु इस समय हमारे देश में हिन्दी-प्रेमियों के लिए कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है, उनमें से एक है—हिन्दी पुस्तकों की दुर्लभता, और दूसरा है—हिन्दी पुस्तकों और अख़बारों के प्रचारार्थ छापाखानों की दुर्लभता।

यदि यहां हिन्दी पुस्तकों और मासिक-साप्ताहिक पत्र-पत्रिकाओं के प्रचार की सुविधा हो तो श्रीलंका में हिन्दी भाषा का प्रचार-प्रसार करना उतना मुश्किल नहीं होगा जितना कि आज अनुभव किया जा रहा है। श्रीलंका में सरकार की सभी परीक्षाओं में हिन्दी भाषा को भी स्थान दिया गया है लेकिन समस्या तो यह है कि हिन्दी भाषा की परीक्षोपयोगी आवश्यक पुस्तकें यहां मिलतीं ही नहीं। इसके अतिरिक्त सरकार द्वारा भारत से हिन्दी भाषा-प्रेमियों के लिए आवश्यक पुस्तकें ख़रीदने की कोई व्यवस्था भी नहीं है। इसको देखते हुए यदि हमारे देश में हिन्दी भाषा-प्रेमियों की अभिलाषा पूरी करने के लिए इस संदर्भ में कोई प्रबंध किया जाये तो शीघ्र ही हिन्दी भाषा जानने और बोलने वालों की संख्या में आशातीत वृद्धि हो सकती है। क्योंकि हमारे देश के युवक और युवतियों के विचार से, "दुनिया में यदि सबसे अच्छी और मीठी भाषा है तो वह हिन्दी है और इतना ही नहीं, दुनिया में यदि अच्छी फ़िल्में हैं तो वह भी हिन्दी की ही फ़िल्में हैं।"

उनके विचार से—हिन्दी भाषा के जानने से उन्हें हिन्दी साहित्य और फ़िल्मों का अर्थ बहुत ही अच्छी तरह से समझ में आ जाता है। मैं सोचता हूं कि यही दशा और देशों में भी होगी। मेरा विचार है कि यदि विश्व हिन्दी सम्मेलन विदेशों में हिन्दी भाषा के प्रचारार्थ सुविधाएं प्रदान करने के लिए कोई ठोस प्रबन्ध करे तो यह हिन्दी के लिए अच्छा होगा।

श्रीलंका और भारत के इतिहास का संबंध सभी दृष्टियों से समान है। सिंहली और हिन्दी भाषा में अधिक फर्क नहीं है। दोनों भाषाओं में काफी समानता है। इसलिए यहां हिन्दी भाषा-प्रेमियों की संख्या दिनोंदिन बढ़ती जा रही है। □

सूरीनाम में हिन्दी की एक शती

रामकुमार सिंह

□ □

गणतंत्र सूरीनाम, 25 नवम्बर, 1975 को स्वतंत्र हुआ। इसके पूर्व यहड च (हालैण्ड) कॉलोनी थी। यह दक्षिण अमेरिका में अटलांटिक महासागर से लगा हुआ, 142,822 वर्ग किलोमीटर क्षेत्रफल का सुन्दर देश है जहां प्रायः 4 लाख लोग रहते हैं। जिनमें प्रायः डेढ़ लाख भारतवंशी हैं। जलवायु सम, बम्बई जैसी।

26 फरवरी, 1873 को कलकत्ता से भारतीयों ने 'लालारुख' जहाज़ से प्रथम प्रस्थान करके 5 जून, 1873 को इस धरती पर पैर रखा और यह आगमन 64 जहाज़ों में चलता रहा तथा अंतिम आगमन 'देवा' नामक जहाज़ से समाप्त हुआ, जो कलकत्ता से 7 अप्रैल, 1916 को चलकर 24 मई, 1916 को पहुंचा। जिससे कुल 34,304 भारतीय यहां पधारे थे।

इस प्रकार इस देश में हिन्दी का पदार्पण अब से 105 वर्ष पूर्व हुआ। तब से अब तक का क्रमबद्ध हिन्दी का इतिहास सही तरीके से तो जानना कठिन है पर कुछ-कुछ अनुमान निम्न प्रकार है :

वर्तमान भारतीय परिवारों की बोलचाल की भाषा भोजपुरी है, जो कि उत्तर प्रदेश के पूर्वी ज़िलों में बोली जाती है। ऐसा इसलिए है चूंकि यहां पर आने वाले भारतीयों में मुख्यतः वहीं के लोग थे। जो लोग यहां आये वे कुछ अपढ़, कुछ साक्षर तथा कुछ बहुत कम शिक्षित थे। पर फिर भी साथ में कुछ-न-कुछ पठन-पाठन की सामग्री—तोता-मैना, सुल्ताना डाकू, सती सावित्री जैसी पुस्तकें—वे लाये थे जिन्हें काम से छुट्टी के समय पढ़े-लिखे व्यक्ति अपने अन्य साथियों को सुनाते थे।

जो लोग (प्रायः 25,000 वापस न गये) यहां बस गये उन्होंने इसकी आवश्यकता समझी कि अपनी भाषा हिन्दी और धर्म तथा संस्कृति को बचाकर रखना चाहिए। जो उनमें से हिन्दी जानते थे उन्होंने अपना पुनीत धर्म मानकर बाकी लोगों को हिन्दी सिखाई तथा सत्यनारायण की कथा, हनुमान चालीसा, रामायण, आल्हा, कहरवा आदि धीरे-धीरे प्रचलित हो चले। फिर कुछ ने सम्पन्न होने के बाद भारत की यात्राएं कीं तथा अपने बच्चों को भारत में शिक्षा भी दिलायी, उनमें कुछ वर्तमान काल के अच्छे दर्जे के विद्वान् हैं। दूसरे उपनिवेशों की तरह यहां हिन्दी को कायम रखने में यहां की गोरी सरकार ने दमन कार्य नहीं किया बल्कि बीच में एक समय ऐसा भी रहा जबकि हिन्दी देश के आधे स्कूलों में पढ़ायी जाती थी।

बाद में, अर्थात् प्रायः 1930 से 1950 तक, कुछ अजीब समय आया जिसमें प्रायः भाषा तथा संस्कृति को वह स्थान नहीं मिला और अज्ञान एवं स्वार्थवश लोगों ने अपने बच्चों के नाम

भी गोरों जैसे रखना चालू कर दिये। सम्भवतः इस विचार से कि यह गोरे लोगों को अच्छा लगे तथा स्कूल आदि में नाम से पता न चले कि कौन गोरा और कौन हिन्दुस्तानी है। हिन्दी की पढ़ाई कम हो गयी, यहां तक कि बच्चों को घर में भी माता-पिता हिन्दी नहीं बोलने देते थे, इस विचार से कि उनकी 'डच' भाषा अच्छी हो जाये; जो कि अब तक इस देश की राष्ट्र-भाषा है।

उसके पश्चात् देश में भारतीयों ने अपनी आर्थिक स्थिति में अच्छा सुधार किया। खेती और व्यापार में जी-जान से लग गये तथा मन्दिर और मस्जिदें बनने लगीं, फलतः भाषा तथा धर्म का विकास भी हुआ। लोगों ने हिन्दी सीखना अपना परम धर्म मान लिया। घर में एक व्यक्ति का हिन्दी जानना जरूरी मान लिया गया। पंडित वर्ग जी तोड़कर हिन्दी भाषा के प्रचार में लग गये। जगह-जगह लोग यज्ञ, गीतायज्ञ, भागवत आदि करवाने लगे। कथा-कीर्तन होना साधारण हो गया तथा लोग हिन्दी भाषा को अपनाने लगे।

जिन लोगों ने जीवन्त हिन्दी की सेवा में कार्य किया और अब हमारे बीच में नहीं हैं उनके नामों का उल्लेख होना ही चाहिए, जैसे पं०प्रसाद शुकुल, पं० घिसाईप्रसाद, पं० अमृतप्रसाद, पं० प्राण, पं० नर्वदा, पं० श्रीकान्त, उदयराजसिंह वर्मा, बाबू रायसिंह आदि।

प्रायः 1962 के समय से जो हिन्दी का स्वरूप सुधरा वह इतना अच्छा है कि उसकी तुलना करना कठिन है। इसी समय यहां पर भारत के श्री बाबू महातमसिंह जी गयाना से पधारे और हिन्दी-सेवा में जी-जान से लग गये। उन्होंने पुस्तकों का भंडार खोल दिया, लोगों को नयी दिशा दी तथा दिन में तो काम करते ही थे; जो व्यक्ति कार्य-व्यस्तता के कारण दिन में समय नहीं निकाल पाते थे उन्हें रात में नित्य प्रति हिन्दी सिखाते थे। इस प्रकार उन्होंने एक आधार तैयार कर दिया जो आज भी अच्छी प्रगति कर रहा है। लोगों ने प्रथमा, मध्यमा आदि की परीक्षाएं नियमित रूप से पास करनी चालू कर दीं। उसी समय से जिन लोगों ने उल्लेखनीय कार्य किया उनका पूरा विवरण तो यहां आना कठिन है, पर कुछ के नाम इस प्रकार हैं : पं० शिवरतन शास्त्री, पं० रामप्रसाद, पं० सुखराम, पं० देवदत्त, पं० रामदेव, पं० वीरे, पं० पाटनदीन, पं० पलटन तिवारी, पं० रामभरोसे, पं० संगम, पं० भाईलाल, पं० रामराज, श्रीलक्ष्मी मल्ह, रामनरायण गंगादीन, पं० गंगाराम पाण्डे। देश के कवि हैं हिन्दी भाषा के, जो कि देश के लिए हिन्दी शिरोमणि हैं। डॉ० लक्ष्मण, श्रीनिवासी, रिनीसत्यम सुरजन परोही इन लोगों की कविताएं पुस्तक रूप में भी छप चुकी हैं, पर ज्यादातर डच वर्णमाला में जिससे कि नागरी लिपि से जो वे परिचित नहीं हैं वे भी आनन्द उठा सकें।

बहुत-से लोग रोमन (या डच, जो कि प्रायः एक ही हैं) लिपि में हिन्दी भाषा में पत्र आदि लिखते हैं। देश के बड़े हिन्दी गायकों में श्री ट० ह० भिखारी, श्री सुखी अकल तथा गायिकाओं में श्रीमती चन्द्रवती तथा श्रीमती रामदुलारी की सेवाएं उल्लेखनीय हैं। ये लोग बैठकी गाने तथा भोजपुरी ढंग के गाने ज्यादा पसन्द करते हैं। श्री अकल जी ने भारत (लखनऊ) में संगीत सीखा तथा वहीं पर शादी भी की। यह हिन्दी भाषा के अच्छे गाने गाते हैं जिनके तमाम रिकार्ड बने हैं। इस देश में दो हिन्दी लिपि के प्रेस, छापेखाने हैं; एक पं० शिवरतन शास्त्री जी का सरस्वती प्रेस तथा दूसरा श्री प्रह्लादसिंह जी का है जो कि हिन्दी के कैलेण्डर, निमंत्रण-पत्र, दीवाली, होली के ग्रीटिंग कार्ड आदि छापते हैं।

देश के अच्छे विद्वान लोग भी हिन्दी भाषा की सेवा ऊंचे स्तर पर कर रहे हैं, उनके व्याख्यान समय-समय पर रेडियो आदि पर आते रहते हैं। जिनसे लोगों को हिन्दी सीखने की प्रेरणा मिलती है, जैसे डॉ० ज्ञान अधिन, प्रो०डॉ० ओमरावसिंह, श्री बालकरण दिहल,

श्री ल० नवरंग प्रहलादसिंह, डॉ० भोंगरा, जार्ज हिन्दोरी, यह सभी लोग देश की लोकसभा के सदस्य हैं या रहे हैं।

देश में कोई हिन्दी का दैनिक पत्र नहीं छपता पर दो साप्ताहिक पत्रिकाएं हैं एक 'वैदिक-संदेश' एवं दूसरी 'धर्मप्रकाश'। इसके अतिरिक्त कई पत्र चालू हुए और पाठकों की कमी से बंद हो गये। अब 'वैदिक संदेश' को ब्रिटिश गयाना व ट्रिनीडाड में भी भेजने की व्यवस्था कर दी गयी है अर्थात् यह तीन देशों का सम्मिलित पत्र होगा। यह आर्यसमाज का पत्र है।

देश के पांच रेडियो स्टेशनों में दो 'राधिका' एवं 'रापार' में मुख्यतः हिन्दी-उर्दू में कार्य-क्रम आते हैं। फ़िल्मी गाने, जन्म-दिन पर फरमाइशें, समाचार आदि तथा दूरदर्शन (टेलीविज़न) पर भी कभी-कभी प्रायः रविवार को कला की पूजा का हिन्दी प्रोग्राम आता है, जो कि संगीत पर आधारित है। गत वर्ष भारत से आये हुए प्रो० सदानन्दसिंह ने हिन्दी भाषा के प्रचार में सराहनीय कार्य किया है। नियमित लोग उनके पास उच्च हिन्दी शिक्षा में संलग्न रहते हैं तथा एक 'सूरीनाम हिन्दी परिषद्' का भी गठन किया गया है जिसके अध्यक्ष इंजीनियर जानकीप्रसादसिंह हैं तथा मंत्री पं० वीरे हैं। ये लोग हर स्कूल में अलग से हिन्दी सिखाने का समुचित प्रबन्ध कर रहे हैं तथा भाषा के सुधार की ओर भी कार्य कर रहे हैं। आशा है कि भविष्य में हिन्दी यहां की मुख्य भाषा बनेगी तथा 'विश्व हिन्दी दर्शन' पत्रिका उस कार्य में पूर्णरूप से सहयोग देगी। □

थोरो और किसान

प्रसिद्ध अमरीकी विचारक हेनरी थोरो ने सस्ते मूल्य पर एक किसान से कुछ भूमि खरीदी थी। दूसरे दिन वह किसान उनके पास आकर गिड़गिड़ाने लगा, "श्रीमान्! सौदा लौटा दें, मेरी पत्नी बेचने को राज़ी नहीं है।"

"बिका हुआ सौदा कहीं वापस होता है!"

"आप उचित हर्जाना ले लें।" किसान ने दस डालर थोरो की ओर बढ़ाते हुए कहा, "मैं निर्धन हूं, इससे अधिक देने में असमर्थ हूं।"

"जब तुम निर्धन हो तब ये दस डालर क्यों दे रहे हो?"

"अपनी मूर्खता के दंडस्वरूप। अनजाने में बाज़ार-भाव से कम मूल्य पर अपनी वस्तु बेच देना, मूर्खता नहीं तो और क्या है?"

किसान के ये शब्द सुनकर थोरो कुछ क्षण के लिए विचार-मग्न हो गये। फिर बोले, "यदि तुम्हारी दृष्टि में अनजाने बाज़ार-भाव से कम मूल्य पर वस्तु बेचना मूर्खता है तो मेरी दृष्टि में जान-बूझकर उचित मूल्य से कम मूल्य पर वस्तु खरीदना चोरी है। मैं तुम्हारा कृतज्ञ हूं कि तुमने मुझे इस अपराध से बचा लिया। ये अपने डालर अपने पास रखो। सौदा वापस। गलती मैं करूं और जुर्माना तुम दो, यह मानवता के विपरीत है।"

बर्मा में हिन्दी

डा० ओमप्रकाश

□□

पिछले एक-दो वर्षों में भारत के कुछ एक पत्रों में 'ब्रह्मदेश में हिन्दी' के विषय में कुछ चर्चा हुई है तथा कुछ लेख भी प्रकाशित हुए हैं।

इस शताब्दी के प्रथम चरण में ब्रह्मदेश में बसने वाले भारतीयों के मन में अपनी संस्कृति और भाषा को इस देश में जाग्रत् रखने के विचार सुदृढ़ हो गये और आर्यसमाज जैसी धर्म-जागरूक संस्थाओं की स्थापना होने लगी। पहला आर्यसमाज सन् 1898 में माण्डले तथा दूसरा 1899 में रंगून नगर में स्थापित हुआ। इनके द्वारा भारतीय लोगों में धर्मप्रचार, संस्कृति, कला तथा हिन्दी के संबंध में विवेचन हिन्दी भाषा के माध्यम से किये जाते रहे। साथ-साथ अन्य हिन्दू धर्ममन्दिरों और संस्थानों में भी रामायण, सत्यनारायण व्रत कथा, श्रीमद्भागवत कथा आदि का प्रचार होता रहा। इनके द्वारा अनायास ही हिन्दी भाषा पोषित होती रही।

सरकारी स्कूलों के खुल जाने के बाद एंग्लो वर्नाकुलर स्कूलों की स्थापना की अनुमति प्राप्त हुई। भारत के लगभग सभी प्रान्तीय भाषा-भाषी लोगों ने ऐसे स्कूल स्थापित करने आरंभ किये जिसमें अपनी मातृभाषा तथा अंग्रेज़ी की शिक्षा का प्रबन्ध स्वीकृत पाठ्यक्रम के अनुकूल था।

हिन्दी का प्रथम स्कूल माण्डले में आर्यसमाज ने डी०ए०वी० मिडिल स्कूल सन् 1916 में स्थापित किया। इसमें हिन्दी के अध्यापक पं० ईश्वरीप्रसाद थे जो भारत से इस कार्य के लिए विशेष रूप से बुलाये गये थे। सन् 1918 में राणा बैजनाथ सिंह जी द्वारा उनके अपने व्यय पर रंगून में एक इसी प्रकार का स्कूल खुला। जिसमें प्रधान अध्यापक श्री अवस्थी जी थे। मारवाड़ी समाज द्वारा सन् 1919 में मारवाड़ी स्कूल की स्थापना हुई। पं० मेघवर्ण ओझा इसमें प्रधान अध्यापक रहे। सन् 1922 में कन्याओं की शिक्षा के लिए शारदा सदन स्कूल की स्थापना हुई जिसमें पं० त्रिशूलधारीजी हिन्दी के अध्यापक थे।

इन संस्थाओं को एक प्रकार से हिन्दी शिक्षा के बीज रूप कह सकते हैं। इसके बाद तो ब्रह्मदेश के अनेक नगरों में हिन्दी की पाठशालाएं तथा स्कूल स्थापित हो गये जिनमें बहुतों को सरकारी मान्यता नहीं प्राप्त थी। सन् 1926 में प्रथम बार मिडिल स्कूल की सरकार द्वारा परीक्षा हुई।

इन्हीं दिनों भारत से स्वनामधन्य पं० हरिवदन शर्मा जी का आगमन हुआ। उनके रग-रग में हिन्दू और हिन्दी की भावना बसी हुई थी। वे बहुत ही कर्मठ व्यक्ति थे। किसी भी कठिन से कठिन कार्य को हाथ में लेकर उसे पूर्ण करना उनकी विशेषता थी। उन्होंने परिश्रम कर बर्मा हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्थापना सन् 1923 में की और कई वर्षों तक इसे अपने द्वारा संचा-

लित ब्राह्मण सभा का एक मुख्य अंग बना रखा था। उन्होंने हिन्दी पाठशालाओं को संगठित किया और उनके शिक्षा का मानक उच्च किया। शिक्षा के लिए पाठ्य विधि निर्धारित की तथा भारत से पाठ्य पुस्तकें मंगवाईं और कुछ यहां तैयार कीं। अनेक स्कूलों को सरकारी मान्यता प्राप्त करवायी। सरकारी मान्यता प्राप्त करने में एक बड़ी अड़चन यह थी कि स्कूल में प्रशिक्षित अध्यापक (ट्रेण्ड अध्यापक) होना आवश्यक था। इसके लिए उन्होंने प्रयत्न कर एक टीचर्स ट्रेनिंग क्लास की स्थापना सन् 1938 में की। यह ट्रेनिंग क्लास आर्यसमाज, रंगून, के अंतर्गत चलने वाले डी०ए०वी० स्कूल में खोली गयी। श्री मास्टर गोपाल दास जी बी० ए० विशारद इसके प्रथम अध्यापक नियुक्त हुए। इसके द्वारा युद्ध छिड़ने तक दो वर्षों में 40 अध्यापक प्रशिक्षित हुए और विभिन्न नगरों में भेजे गये। इससे यह सुविधा प्राप्त हुई कि जिस-जिस पाठशाला में यह अध्यापक गये उन-उन स्कूलों को सरकारी मान्यता प्राप्त हो गयी। और सरकार की ओर से ट्रेण्ड अध्यापक को 65 रुपये का सरकारी अनुदान मिलने लगा था। इस तरह परोक्षरूप से हिन्दी-प्रचार को अत्यधिक प्रोत्साहन प्राप्त हुआ।

द्वितीय विश्वयुद्ध के छिड़ जाने के कारण ब्रह्मदेश की सब प्रकार की व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो गयी। शिक्षा, संचार, यातायात, व्यापार आदि कुछ न रह गया। लोग युद्ध की प्रचण्ड विभिषिका से बचने के लिए जंगलों में छोटी बस्तियों में राज पथ से हटकर बसने लग गये। सबको अपने-अपने जान के लाले पड़े हुए थे, किसी भी प्रकार की किसी भी भाषा की शिक्षा की कोई व्यवस्था नहीं हो रही थी।

सन् 1947 में युद्धसमाप्ति के पश्चात् देश में पुनः राज्यव्यवस्था कायम हुई, फिर से हिन्दी के स्कूल, हाई स्कूल तथा पाठशालाओं की स्थापना हुई और सन् 1950 तक देश में हिन्दी की छोटी-बड़ी पाठशालाएं 300 से ज़्यादा स्थापित हो गयीं।

श्री हरिवदन शर्मा अब बूढ़े हो चले थे लेकिन हिन्दी के संबंध में उनका उत्साह तनिक भी कम नहीं हुआ था। उन्होंने इन पाठशालाओं को संगठित किया और बर्मा हिन्दी साहित्य सम्मेलन को भी पुनर्जीवित किया तथा इस क्षेत्र में अनेक कार्यकर्ताओं को आगे बढ़ाया। इनमें मुख्य श्री सत्यनारायण गोयनका श्री गौतम भारद्वाज, श्री श्रीराम वर्मा, श्री रामगोविन्द वर्मा, श्री श्यामलाल भारती, ऊ पारगू (ऊल्हायाई) श्री कान्तिलाल शाह, श्री जयन्ती भाई जोशी, श्री श्यामशरण मिश्र, डा० ओमप्रकाश, पं० रामचन्द्र विद्यालंकार, श्रीमती सत्यभाषिणी देवी, श्री हीरा प्रसाद वर्मा, श्री दूधनाथ तिवारी, श्री माताप्रसाद सिंह, श्री चन्द्रिका प्रसाद वर्मा, श्री शिवधारी राय, श्री श्यामदत्त पाण्डेय, श्री चन्दूलाल ठक्कर आदि रहे।

साहित्य सम्मेलन ने पाठशालाओं के लिए पाठ्य क्रम निश्चित किया तथा भारत से प्रति वर्ष हिन्दी की पुस्तकें हज़ारों रुपयों की मंगवायीं। रंगून में कलकत्ता विश्वविद्यालय के बी० ए० तक की परीक्षा का केन्द्र स्थापित हो गया जिसमें हिन्दी भी एक विषय था। राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा, दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा तथा हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, की परीक्षाओं के केन्द्र रंगून तथा जियावड़ी में स्थापित हो गये। रंगून, माण्डले, टौंजी, मिचीना, लाश्यो, मेंम्यो तथा जियावड़ी आदि नगरों में दसवीं कक्षा तक की परीक्षाओं का प्रबन्ध था। साथ-साथ साहित्य-गोष्ठियों, हिन्दी नाटक, वाद-विवाद आदि द्वारा भी हिन्दी-प्रचार हुआ। श्री रामकृष्ण मिशन में पुस्तकालय खुला जिसमें आजकल हिन्दी के लगभग पांच हज़ार पुस्तकें हैं। ब्रह्मदेश में यह एक ही पुस्तकालय है। सन् 1920 में श्री मारवाड़ी पुस्तकालय खुला। उसमें भी हज़ारों की संख्या में हिन्दी की पुस्तकें हैं और बीसियों मासिक और साप्ताहिक पत्र आ रहे हैं। मारवाड़ी पुस्तकालय अभी भी है।

हिन्दी के समाचारपत्रों का प्रकाशन पुनः आरंभ हो गया—प्राची प्रकाश (दैनिक), नवजीवन प्रवासी (साप्ताहिक), ब्रह्मभूमि तथा जागृति मासिक एवं हिन्दू सेण्ट्रल बोर्ड द्वारा प्रकाशित बुलेटिन इसमें मुख्य हैं।

सन् 1966 में ब्रह्मदेश के सारे स्कूलों का राष्ट्रीयकरण हो गया तो हिन्दी की शिक्षा स्कूलों में प्राप्त होनी बन्द हो गयी। हिन्दी प्रचार के लिए यह घटना वज्रपात के समान हुई। लेकिन हिन्दी के अध्यापकों ने त्याग और सेवा-भाव से हिन्दी की शिक्षा को मन्दिरों, घरों और सामूहिक अध्ययन-केन्द्रों में जीवित रखा।

गत 50 वर्षों से भारतीय दूतावास, रंगून, ने बर्मा हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रार्थना पर राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा, तथा हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, की परीक्षाओं की पाठ्य पुस्तकों का अनुदान देकर इस दिशा में प्रर्याप्त सहायता प्रदान की है।

सम्प्रति ब्रह्मदेश में 30 केन्द्र हैं जिनमें राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा; हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, तथा स्थानीय पाठशालाओं द्वारा परीक्षाओं की व्यवस्था है। वर्धा तथा सम्मेलन की परीक्षाओं में प्रतिवर्ष सात और आठ सौ तक परीक्षार्थी भाग लेते हैं।

बर्मी और हिन्दी साहित्य के आदान-प्रदान के लिए भी बहुत कुछ प्रयास पिछली दशाब्दी में हुए हैं। इस दिशा में ऊपारगू(ऊल्हाचाई)का नाम अग्रगण्य है। उन्होंने बर्मा में तथा काशी विश्व-विद्यालय में पांच वर्ष तक रहकर हिन्दी भाषा और साहित्य का गंभीर अध्ययन किया है। और गत 20 वर्षों में उन्होंने अनेक हिन्दी ग्रन्थों का बर्मा भाषा में अनुवाद किया है। जिनमें से कुछ एक के नाम इस प्रकार है: 'वोल्गा से गंगा', 'सिंध सेनापति', 'चित्रलेखा', 'दिव्या', 'बुद्ध की डायरी', 'आकाशदीप', 'चारुमित्रा', 'लंकादीप विजय', 'संघमित्रा', 'शशि लेखा' तथा 'अशोक'। संस्कृत के ग्रंथों में पंचतंत्र तथा हितोपदेश आदि हैं। बीसियों हिन्दी की पुस्तकों और कहानियों का अनुवाद बर्मी भाषा में ऊताम्या, उत्तजे, ऊतानठून, ऊ सानठून आदि ने करके सराहनीय कार्य किया है। भिक्षु ऊ कित्तिमा ने वाल्मिकीय रामायण तथा सत्यार्थ प्रकाश जैसे वृहद् ग्रंथों का अनुवाद किया है। प्रेमचन्द के विख्यात उपन्यास 'गोदान' का अनुवाद श्री चन्द्रप्रकाशजी द्वारा हुआ। श्री श्यामलाल भारती ने कुछ बर्मी दन्तकथाओं तथा जनश्रुतियों के आधार पर कुछ पुस्तिकाएं प्रकाशित की हैं।

ब्रह्मदेश में हिन्दी भाषा को भारतमूलक लोगों में केवल साहित्यिक दृष्टि से ही नहीं अपितु धर्म तथा संस्कृति का ज्ञान कराने वाली भाषा के रूप में मान्यता देना तथा अध्ययन करना नितांत आवश्यक हो गया है। इसके लिए जितने भी प्रयत्न हों किये जाने चाहिए। संतोष का विषय है कि वर्तमान काल में अनेक भारतमूलक हिन्दी भाषा-भाषी नवयुवकों की पर्याप्त संख्या है जिनमें भारतीय सभ्यता, धर्म और संस्कृति का यथेष्ट ज्ञान है, तथा उनमें बर्मी भाषा की भी पर्याप्त योग्यता है। इस युवक समाज को उचित मार्ग दर्शन हो तो ये लोग ब्रह्मदेश में बर्मी और हिन्दी भाषा के आदान-प्रदान का अच्छा माध्यम बन सकते हैं तथा भारतीय दर्शन तथा हिन्दी साहित्य को भी बर्मी भाषा में अनूदित कर समस्त बर्मी भाषा-भाषियों के लिए अच्छी सामग्री प्रस्तुत कर सकते हैं। इस आशा-किरण को प्रदीप्त किया जाये तो ब्रह्मदेश में हिन्दी की ज्योति निश्चय ही अमर रहेगी। □

भारतीय वाङ्मय की विश्वदृष्टि

विद्या निवास मिश्र

□ □

यह मनुष्य के स्वभाव में है कि वह अतीत, वर्तमान और भविष्य में एकसाथ जिये बिना रह नहीं सकता। अतीत से जुड़ने के पीछे पलायन का भाव चाहे किसी दूसरी मानव जाति में मिलता हो—पर भारत में अतीत से जुड़ने का अर्थ वर्तमान की सम्भावना का विस्तार होता है, वर्तमान से पलायन नहीं। इसी प्रकार भावी सुख की कल्पना इन्हीं किन्हीं विचार-दर्शनों में वर्तमान की प्रेरक भले ही हो, किन्तु भारतीय जीवन-दृष्टि अनागत सुख की कल्पना में वर्तमान को विस्मृत नहीं करती, वह अनागत सुख को वर्तमान की संतति या फैलाव की दिशा के रूप में ही स्वीकार करती है। वर्तमान केवल अतीत के सनातन शाश्वत मूल्य को भविष्यत् की यात्रा के पाथेय के रूप में सौंपने वाला एक माध्यम है किन्तु एकमात्र होने के कारण दोनों से अधिक महत्त्वपूर्ण है।

इस दृष्टि से जब हम प्राचीन भारतीय ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धियों पर विचार करते हैं तो सबसे पहले ज्ञान-विज्ञान को सही रूप देने वाली उस समय के मनुष्य की विश्वदृष्टि की ओर हमारा ध्यान जाता है। प्राचीन भूमध्य-सागरीय लोगों की विश्वदृष्टि से भारतीय विश्वदृष्टि में एक मौलिक भेद है। पश्चिमी दृष्टि में प्रकृति या प्रकृति की शक्तियां मनुष्य से अलग हैं और इसीलिए इन दोनों में स्पर्धा है। मनुष्य के मन में प्रकृति को जीतने की बात आती है और प्रकृति की शक्तियों के प्रतिरूप देवता इस विजय-यात्रा में इसीलिए बाधा पहुंचाते हैं। इसके ठीक विपरीत भारतीय विश्वदृष्टि मनुष्य और प्रकृति दोनों को अविलग देखती है—बाहर से जो सूर्य का प्रकाश है वही भीतर बुद्धि का प्रकाश है, बाहर जो अंधकार है वही भीतर भय है, बाहर जो तृण, वीरुध और वृक्ष में ऊपर उठने की प्रक्रिया है वही भीतर की उमंग है। इसीलिए मनुष्य और देवता में स्पर्धा नहीं है, सहकार है। मनुष्य देवता को प्रभावित करता है, देवता मनुष्य को। भारतीय ज्ञान-विज्ञान का सबसे पहला केन्द्र वैदिक यज्ञ-संस्था है और यह संस्था मनुष्य और देवता, आभ्यन्तर और वाह्य, व्यक्त और अव्यक्त, चर और अचर को एक-दूसरे के लिए अपेक्षी बनाने वाली विधि है। इसलिए जहां पश्चिमी चिंतन, मनुष्य की अप्रतिहत बुद्धि को केन्द्र में रखता है, प्रकृति पर मनुष्य की विजय को मनुष्य का पुरुषार्थ मानता है तथा पूरी सृष्टि को मनुष्य का उपभोग्य, वहां भारतीय चिन्तन कोई एक केन्द्र देखता ही नहीं, उसका विश्व बहुकेन्द्रिक है, मनुष्य के लिए देवता केन्द्र है, देवता के लिए मनुष्य, वहां प्रकृति पर विजय नहीं, प्रकृति से सामंजस्य और समग्र अस्तित्व में परम सामंजस्य स्थापित करना ही मानव-जीवन का परम लक्ष्य है, समस्त भूतों के ऋण की परिशुद्धि ही परम पुरुषार्थ है, वहां कोई निरपेक्ष रूप में नहीं भोग्य है; या तो मनुष्य सहभोक्ता है या सभी सहभोक्ता हों इसके लिए अपने को अर्पित करने वाला भोज्य

है। वह अन्न भी है अन्नाद भी।

इस विश्वदृष्टि के आलोक में ही भारतीय ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धि है और उस उपलब्धि की सनातन मूल्यवत्ता की बात की जा सकती है। भारतीय ज्ञान-विज्ञान का उद्देश्य वस्तुओं की पहचान-मात्र नहीं है। उसका उद्देश्य समस्त वस्तुओं की पहचान करके उनमें उनकी प्रतीयमान सत्ताओं को अलग-अलग वर्गीकृत करके उनमें एक अव्यय भाव—एक न चुकने वाला भाव तलाशना है। जो ज्ञान-विज्ञान इस तलाश को अपने ध्येय के रूप में स्वीकार नहीं करता वह अधूरा माना जाता है परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि इसका खंडित या अधूरा ज्ञान उपेक्षणीय है। वराहमिहिर ने बृहत्संहिता के आरम्भ में यवन अर्थात् ग्रीक ज्योतिर्वेत्ताओं के प्रति सम्मान प्रदर्शित करते हुए कहा है कि वे लोग भी महर्षियों की तरह पूज्य हैं क्योंकि ज्ञान कैसा भी हो, पवित्र होता है—"न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।" भारतीय दृष्टि केवल अधूरे ज्ञान को अपने बड़े चौखटे में जोड़ने पर बल देती है वह उसको तिरस्कृत नहीं करती। भारत ने शिल्प, कला, ज्ञान, विज्ञान इन सभी क्षेत्रों में बाहर से लेने में संकोच नहीं किया पर देते समय यह ध्यान अवश्य रखा है कि जिसको दिया जाय उसको अपने से बड़ा मानकर दिया जाय, छोटा मानकर नहीं। जावा, कम्बोज, मध्य एशिया, कोरिया और जापान को भारत ने दिया पर इन देशों की निजी प्रतिभा को बड़प्पन देते हुए दिया, उस प्रतिभा की भंगिमाओं को आत्मसात् करते हुए अपनी इयत्ता उन्हें सौंपी।

प्रायः कहा जाता है कि केवल दर्शन, ललित कला और साहित्य के क्षेत्र में ही भारत की कुछ महत्त्वपूर्ण देन है, उसमें भारतीय दर्शन धर्म से उलझा हुआ है, उसके ऊपर दुःख का भूत चढ़ा हुआ है। भारतीय साहित्य और कला जहां धर्म से उलझे नहीं हैं वहां मनुष्य की गरिमा को व्यक्त करने में समर्थ नहीं हैं, क्योंकि वे केवल सुखमय विलास का ही चित्र प्रस्तुत करते हैं। ऐसा कहने वाले यह नहीं सोचते कि धर्म स्वयं व्यापक अर्थ में हमारे यहां गृहीत है। वह न कोई विश्वास है न एक निश्चित आचरण-संहिता, वह दोनों का अर्थ प्रदान करने वाला जीवन-धर्म का व्यापार है। इसीलिए धर्म से कोई चीज विलग हो ही नहीं सकती। अधर्म भी धर्म का निषेध या विरोध नहीं, धर्म की जड़ता ही अधर्म है और इसलिए धर्म की गतिशीलता समस्त दर्शनों, साहित्यों और कलाओं पर छायी हुई है। न तो भारतीय दर्शन दुःखवादी है और न भारतीय साहित्य सुखवादी। भारतीय दर्शन दुःख की बात वास्तविक सुख की तलाश के लिए प्रेरक विन्दु के रूप में करता है और भारतीय साहित्य सुखमय परिणति को दुःख के विनाश के रूप में नहीं, बल्कि दुःख के अभिघातक गुण के विनाश के रूप में स्वीकार करता है। ग्रीक ट्रेजेडी में जिस प्रकार का करुण बोध है, वह मनुष्य की विवशता को द्योतित करने वाला है, मनुष्य की विवशता पर आधारित है। महाभारत जैसे ग्रन्थ में जो करुण बोध है वह मनुष्य के भीतर छोटे और बड़े धर्म के बीच छिड़ने वाले संघर्ष पर आधारित है। ग्रीक ट्रेजेडी में पतन की गरिमा है क्योंकि पतन कुछ नियत कारणों से होता है। परन्तु भारतीय काव्य में परिणति पतन की गरिमा है, पतन की उपेक्षा करने वाली निस्संगता की गरिमा में और उससे अधिक निस्संग व्यक्ति की परदुःखकातरता में है। ओडीपोस के चरित्र में और युधिष्ठिर के चरित्र में यही अन्तर है।

बहुत-से पश्चिमी आलोचक संस्कृत काव्य को घोर श्रृंगार का काव्य मानते हैं, ऐन्द्रिय विलास का काव्य मानते हैं, क्योंकि वे यह समझ ही नहीं सकते कि ऐन्द्रिय विलास भी ओछा नहीं, यह एक बड़ी, एक-दूसरे के पर्युत्सुक होने वाली प्रक्रिया का अंग है :

मधुद्विरेफः कुसुमैकपात्रे पपौ प्रियां स्वामनुवर्तमानः।
श्रृंगेण च स्पर्शनिमीलिताक्षी मृगीमकण्डूयत कृष्णसारः॥

भौंरे ने कुसुम का रस प्रिया को पिलाकर ही पिया। मृग ने अपने सींग के स्पर्श मात्र से आंखें मूंदकर विश्वस्त बैठी हुई मृगी को खुजलाया। इस सहज आत्मदानी और विश्वासोत्पादक प्रेम-व्यापार को शृंगार के सहकारी के रूप में स्वीकार किया जाता है तो वह शृंगार केवल इन्द्रियों की तुष्टि नहीं, न केवल व्यक्ति की परितुष्टि है। वह समस्त चित्त की रागाकुलता को उभारकर सम्पूर्ण उद्वेलन के साथ व्यक्ति के उद्वेलन को जोड़कर बिछड़े हुए चिदंशों के एकीकरण की प्रक्रिया है। यही कारण है कि संस्कृत काव्य में राजा के दरबार का ऐश्वर्य-विलास है, पर तपोवन की शान्ति से, तपोवन के विश्वास से छोटा होकर ही। भारतीय कविता को निरन्तर वन ने, वन की सहज और बीहड़ प्रकृति ने, एक ऐसा परिपार्श्व दिया है जिससे उसमें वर्णित प्रेम और उसकी चेष्टाएं महिमान्वित हो गयी हैं।

भारतीय कला में भी जिन लोगों को केवल अलंकरण दीखता है या एक ही आकृति की पुनरावृत्ति दीखती है, अयथार्थता दीखती है, वे यह नहीं देख पाते कि साधारण अनुपात से अलग जाकर आकृतियों की रचना इस उद्देश्य से है कि जिस रूप में वस्तु दृष्ट है, जिस मात्रा में अदृश्य में द्रष्टा है, उसी रूप में और उसी मात्रा में उस वस्तु का शाश्वत महत्त्व है क्योंकि वह उसका आन्तरिक यथार्थ है। अभिप्रायों की पुनरावृत्ति, सौन्दर्य-रूढ़ियों की पुनरावृत्ति, विशेषणों की पुनरावृत्ति, ऋतुचक्र की पुनरावृत्ति, इस उद्देश्य से नहीं है कि पाठक या दर्शक ऊबे या उद्विग्न हो, ठीक उल्टा इस उद्देश्य से है कि आवृत्ति के माध्यम से अनेक भंगिमाओं में दृश्यमान भाव की एकता की अनुस्मृति नष्ट न होने पाये, खंड रूप में प्रतिभासम्पन्न सत्ताओं की अखंडता दृष्टि से ओझल न होने पाये। नूतनताओं का अनुसंधान, भारतीय कला-दृष्टि में व्यस्ति-वैशिष्ट्य में नहीं व्यक्ति-व्यापार-वैशिष्ट्य में है। महाभारत और रामायण के पात्रों को लेकर जाने कितने नाटक लिखे गये हैं, कितनी शिल्प-रचनाएं हुई हैं किन्तु उन्हीं पात्रों के ही बार-बार आने पर भी प्रस्तुति में नवीनता है। उन पात्रों की प्रस्तुति अलग-अलग उद्देश्य से उनकी अनुवर्तमानता के द्वारा की जाती है। इसलिए राम-रावण, कृष्ण-कंस तो नहीं बदलते और उसी रूप में प्रस्तुत होते हैं जिस रूप में वाल्मीकि और व्यास में हुए, किन्तु सिद्ध या इतिहासबद्ध पुरुष के रूप में उनकी भूमिकाएं भारतीय दृष्टि में बहुत छोटी हैं क्योंकि भारतीय साहित्य और कलादृष्टि ऐतिहासिक भूमिका का बहुत सीमित उपयोग करती है। वह न उसका प्रत्याख्यान ही करती है न उसके विरोध में कोई अनैतिहासिक या स्वप्निल भूमि को प्रस्तुत करती है, वह केवल इन दोनों प्रकार की खंडित भूमिकाओं से निरपेक्ष रहने वाली, देश और काल का अतिक्रमण करने की सम्भावना रखने वाली, लीलाव्यापारमय भूमिका की सृष्टि करती है।

रामकृष्ण की ऐतिहासिक भूमिका छोटी, नित्यलीला के रूप में उनकी भूमिका बड़ी है, बुद्ध की शाक्य मुनि के रूप में भूमिका छोटी, बोधिसत्त्व की शृंखला के रूप में बड़ी है। इसलिए प्राचीन भारतीय साहित्य कला की उपलब्धि का मूल्यांकन करते समय भारतीय मूल्यबोध का यह पक्ष ध्यान में रखना आवश्यक हो जाता है।

भारतीय वैज्ञानिक उपलब्धि पर विचार करते समय भी यह बात स्पष्ट दीखती है कि इस विज्ञान का उद्देश्य प्रकृति को जीतना नहीं है, बल्कि मनुष्य और प्रकृति को एक परस्पराकांक्षी युग्म के रूप में स्थापित करना और सृष्टि चक्र को पथच्युत होने से रोकना है। प्राचीन भारतीय जीवन में यह नहीं था कि आखेट वर्जित हो, पशुवध न होता हो, किन्तु यह अवश्य था कि प्रजनन की ऋतुओं में आखेट वर्जित किया जाता था, जिससे सृष्टि का संतुलन बिगड़ने न पाये। पेड़ से लकड़ी तोड़ी जाती थी लेकिन नयी शाखा छिनगाना पाप समझा जाता था। कृषि-विकास के साथ-साथ वृक्षारोपण, पशुसंवर्द्धन को महत्त्व देने के पीछे भी यही प्रयोजन था कि कोई भी

विकास अपने-आपमें पूरा नहीं था। बहुत सूक्ष्म पर्यवेक्षण के बाद प्राचीन भारतीयों ने आयुर्वेद और ज्योतिष का ज्ञान विकसित किया और इन दोनों प्रायोगिक विज्ञान के क्षेत्रों में उन्होंने भारतीय दृष्टि खोने नहीं दी। यही नहीं, उन्होंने आयुर्वेद को ज्योतिष से जोड़ा और बाह्य दृश्य प्रत्यक्ष विद्याओं को अप्रत्यक्ष विद्या अध्यात्म-विद्या से जोड़ा जिससे भले ही किसी खंडित दृष्टि वाले व्यक्ति को अटपटा लगे कि नक्षत्र या ऋतुविशेष में औषधि उखाड़ने में कौन-सा वैज्ञानिक महत्त्व है, पर उसके पीछे एक अखंड दृष्टि है। पश्चिम के प्रसिद्ध भारतीय तत्त्ववेत्ता हाइनरिख-त्सिमर ने हिन्दू चिकित्सा नामक ग्रन्थ में ठीक ही लिखा है कि हिन्दू चिकित्सा पद्धति मन और शरीर के भेद को स्वीकार नहीं करती और न केवल शरीर के स्वास्थ्य-लाभ तक सीमित रहती है, वह वस्तुतः शरीर के माध्यम से जीवन के आनन्द की पूर्णता प्राप्त करने की है। इसीलिए आयुर्वेद में शरीर, रति, हेतु, व्याधि, कर्म, कार्य, काल, कर्ता (वैद्य), करण और विधि-विनिश्चय इन दसों का महत्त्व है और यह चिकित्सा पद्धति इसीलिए आयुर्वेद कही जाती है कि वह जीवन-तत्त्व को परिपूर्णता दिलाने के लिए है, वह मनुष्य के बाहरी शरीर की चिकित्सा नहीं, मनुष्य के अन्तर्वर्ती प्राण की चिकित्सा है। यही कारण है कि आयुर्वेद की भित्ति सांख्य की त्रिगुणात्मक सृष्टि-योजना है। यह योजना ऊपर से देखने पर बहुत अस्पष्ट और बाह्य वस्तुनिरीक्षण से अप्रमाणित जान पड़ती है, परन्तु इसका आधार शरीर की स्थूल रचना नहीं, शरीर की सूक्ष्म रचना है। इसलिए आयुर्वेद को अच्छी तरह समझने के लिए योग-साधना के अनुसार शरीर में शक्ति-प्रवाह के रूप में स्थित चक्र-शृंखला को समझना आवश्यक होता है और इस शृंखला की कल्पना भी वस्तुतः विराट् विश्व के व्यष्टि शरीर में सूक्ष्म रूप में अवस्थित होने पर आधारित है। इस प्रकार आयुर्वेद का ज्ञान भी आधुनिक अर्थ में विज्ञान भले न माना जाये पर अनुभव की व्यापकता, गहराई की दृष्टि से यह अधिक पूर्ण विज्ञान सिद्ध हो सकता है यदि इस पद्धति को मानने वाले इसके सम्पूर्ण परिप्रेक्ष्य में अपने अनुभव के बल पर इसे निरन्तर प्रतिसंस्कृत करते हुए आगे बढ़ायेंगे।

ज्योतिष विद्या के प्रसंग में यही बात लागू है कि वह केवल काल-गणना या दिग्गणना नहीं है, वह सृष्टि-विद्या भी है और वह खंडकाल के परिणामों के माध्यम से अखंडकाल की साधना करने वाली विद्या भी है। यह आकस्मिक नहीं है कि भारतीय ज्योतिष में निरयण गणना को सायण गणना की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया गया है। निरयण गणना सृष्टि के आरम्भ को बिन्दु मानकर चलती है। और इसलिए मनुष्य का जन्म निरवधि काल और सावधि काल के मिलन-बिन्दु पर होता है। एक ओर वह जीवन की उन्नत यात्रा के प्रभाव की शृंखला के रूप में आता है, और दूसरी ओर एक खंडकालिक इयत्ता भी रहती है जो उसीके प्रारब्ध-संचित और क्रियमाण कर्मों के द्वारा नियंत्रित रहती है। भारतीय ज्योतिर्विद्या का प्रारम्भ सौर-मंडल की कल्पना से नहीं, नक्षत्र-मंडल की कल्पना से हुआ। इसीसे इस विद्या में प्रारम्भ में ही पृथ्वी-केन्द्रिक विचारधारा परिपोषित न होकर ब्रह्मांड की एकता देखने वाली विचारधारा पर परि-पोषित हुई। भले ही भारतीय ज्योतिविद्या की बहुत-सी उपलब्धियां आधुनिक खगोल विद्या और खगोल भौतिकी के विकास के सामने बच्चों की क्रीड़ा लगे, पर यदि सूक्ष्मता से विचार किया जाय तो प्राचीन भारतीय ज्योतिष की व्यापक दृष्टि आज के गणितज्ञों के लिए भी स्पृहा की वस्तु है, क्योंकि पश्चिम का गणितज्ञ या खगोलवेत्ता आज भी मनुष्य-केन्द्रिक विश्व-दृष्टि से इतना बंधा हुआ है कि वह ब्रह्मांड की लयबद्धता के बारे में शंकालु बना हुआ है।

विज्ञान के जिन क्षेत्रों में प्राचीन भारतीय उपलब्धियां देखनी हैं, उनमें कृषि, भवन-निर्माण, नगर-निर्माण, धातुविद्या, रसायन, नौका-निर्माण और वस्तु-निर्माण प्रमुख हैं। चावल,

गन्ना, कपास की फसलें तथा आम, नींबू, सुपारी, नारियल जैसे फल वाले वृक्षों के विकास में भारत का महत्त्वपूर्ण योगदान है। वस्तुतः कलम के आरोपण के द्वारा धान और आम का विकास भारत की निजी उपलब्धि है। भारत में कृषि, उद्यान और गोपालन तीनों अन्तःसम्बद्ध हैं। शासन तंत्र ने इनको स्वतंत्र विकास करने के अवसर भी दिये थे। हज़ारों वर्षों तक ग्राम-स्तर पर स्वराज्य भारत में अक्षुण्ण बना रहा। भवन-निर्माण नगर-निर्माण और धातु-विद्या का विकास अवश्य अवरुद्ध हुआ, उसके भी दो मुख्य कारण थे। एक तो इन विद्याओं के पीछे जो देश-काल की आध्यात्मिक अवधारणा भारतीय मानस में थी वह लुप्त हुई और उसके साथ-साथ रचना की प्रेरक शक्ति लुप्त हो गयी। दूसरे यह कि भौतिक समृद्धि के अवसरों का वितरण विषम हो गया, शासन का केन्द्रीयकरण बढ़ गया और सत्ता की लोलुपता के कारण प्राचीन भारतीय जीवन-दृष्टि में समग्ररूप से जो सौन्दर्य-बोध है वह क्षीण होने लगा। एकाकी आध्यात्मिकता का प्रसार हुआ, अब इसके कारण भौतिक सुख-सुविधाओं के लिए सामाजिक दायित्व में ह्रास आया और इसीसे धीरे-धीरे शिल्पी, धातुकार, कारीगर बेरोजगार होते गये—और आज इन प्रायोगिक विद्याओं पर एक तो पुस्तकें कम मिलती हैं, जो मिलती भी हैं उन्हें समझना कठिन हो गया है, क्योंकि प्रयोग की परम्परा बीच में बहुत दिनों तक विच्छिन्न हो गयी। एलोरा में किस प्रकार एक पहाड़ में ऊपर से नीचे की ओर पत्थर काट-काटकर रचना हुई, किस प्रकार सौ हाथ से ज़्यादा लम्बी-चौड़ी-मोटी शिला केवल एक दीवार पर टिकाई गयी, किन द्रव्यों से दिल्ली के लौह-स्तम्भ का पॉलिश का निर्माण हुआ है कि उसकी चमक अब तक बनी हुई है! जिस प्रकार की नगर की रचना और सामाजिक सुविधाओं का विन्यास मोहेनजोदड़ो में मिलता है, वह क्रम कैसे टूट गया—इन प्रश्नों का उत्तर आज नहीं मिलता। उत्तर पाने का प्रयत्न भी नहीं करना चाहिए। मनुष्य का यंत्र-कौशल बहुत विकसित हो चुका है। भारतीय विद्याओं से इस कौशल के भावी विकास में यदि कोई सहायता मिलेगी तो वह यह कि इसके उपयोग में वह एक सर्वभूत हित की दृष्टि दे सकती है। जिस परिवेश-विद्या (इकौलीजी) की चर्चा का आजकल फैशन है उसकी मूल स्थापना भारतीय चिन्तन के समीप है, यह कि जैव-सृष्टि में कोई चीज़ नष्ट नहीं होती वह पुनः नया जैव रूप धारण करती है। इसलिए जीव-विनाश का अविवेकपूर्ण अभियान असन्तुलन ला सकता है। उदाहरण के लिए संसार में भोजन की कमी का समाधान आज आदमी समुद्र-खाद्य के संग्रह से करना चाहता है। विज्ञान ने यह पता लगा लिया है कि समुद्र की सतह पर छोटे-छोटे ऐसे जीव रहते हैं जो सूर्य के ताप से जीवन ग्रहण करते और पोषक वस्तुओं के परिमाण के अनुपात में उनकी अल्पमात्रा भी पर्याप्त पोषण दे सकती है। अब यदि इसका संग्रह अविवेकपूर्ण ढंग से किया जाय तो परिणाम यह होगा कि उसके ऊपर जीने वाले समुद्री जीव समाप्त हो जायेंगे और उन जीवों के समाप्त होने से समुद्र की शुद्धता भी समाप्त हो जायगी, जिससे व्यापक रूप से जीवन के लिए आवश्यक प्राणस्रोत में कमी आ जायेगी। इसी प्रकार समस्त यांत्रिक विकास के सम्बन्ध में एक प्रश्नचिह्न खड़ा हो गया है। मनुष्य की भूख अगर शान्त नहीं होती तो केवल मनुष्य ही नहीं पूरा भूगोल प्रभावित हो सकता है। इसलिए यदि प्राचीन ज्ञान-विज्ञान की सबसे महत्त्वपूर्ण उपलब्धि आज जो प्रासंगिकता रखती है, वह है सर्वभूतात्मभाव, समस्त जड़-चेतन सत्ताओं में एक जीवनधारा, एक चैतन्य प्रवाह को स्पन्दित देखना (समस्त क्षणों में एक सन्तान देखना), समस्त बुद्‌बुदों में एक अव्यक्त महासागर देखना। आदमी जब इस रूप में देखता है तो एक मायने में तो छोटा हो जाता है क्योंकि उसका अहंकार टूट जाता है, पर दूसरे मायने में वह बड़ा हो जाता है क्योंकि सबका हित देखने वाला स्वयं 'सब' बन जाता है। □

हिन्दी में अनूदित साहित्य

डा० प्रभाकर माचवे

□ □

इस विषय पर चर्चा, परिचर्चा, गोष्ठी-संगोष्ठी, सभा-सम्मेलन इतने हो चुके हैं, पर अभी भी एक स्थान पर हिन्दी में अनूदित संपूर्ण साहित्य की सूची उपलब्ध नहीं है। उसके अभाव में सारी बातें अनुमान पर अधिक आधारित हैं, तथ्यों पर कम। स्व० डॉ० माताप्रसाद गुप्त की 'हिन्दी ग्रन्थ सूची' और डॉ० मंगलनाथ सिंह के हिन्दी में उपलब्ध साहित्य पर सूचियां या श्री महाजन आदि की आलोचना आदि विषयों पर विशिष्ट काल तक सीमित सूचियां, या स्व० कृष्णाचार्य की 'हिन्दी के स्वीकृत शोध-निबन्ध' या 'आदि मुद्रित पुस्तक' के अतिरिक्त हमारे पास क्या है? कम से कम प्रत्येक भारतीय भाषा से हिन्दी में कितनी पुस्तकें अनूदित हैं, और उनमें से कितनी अब पुस्तक-विक्रेताओं के पास उपलब्ध हैं, इनकी एक अच्छी सूची बन जानी चाहिए।

वैसे तो मैं हिन्दी-अनुवाद अपने जीवन के बीस बरस से कल तक यानी इकतालीस वर्ष से बराबर करता आ रहा हूं और कई पुस्तकाकार और छिटपुट पत्र-पत्रिकाओं में छपे भी हैं, फिर भी जब मैं 1954 में केन्द्रीय साहित्य अकादेमी में आया तब मेरे सामने, एक हिन्दी और भारतीय साहित्य के प्रेमी के नाते यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि भारतीय तथा विदेशी साहित्य के सौ-सौ मानक ग्रन्थों का अनुवाद सभी भारतीय भाषाओं में किया जाये। श्री जवाहरलाल नेहरू, डॉ० राधाकृष्णन् अध्यक्ष-उपाध्यक्ष और कृष्णा कृपलानी अकादेमी के मंत्री थे। सबका अंग्रेज़ी साहित्य से विशेष प्रेम था। उसीमें लिखते थे। सो विदेशी साहित्य से अंग्रेज़ी में अनूदित पुस्तकों को आधार मानकर एक बीस-पच्चीस पुस्तकों की पहली सूची बनायी गयी, जिसे अनुवाद के लिए आधार माना जाये। हुमायुन कबिर, सरदार पणिक्कर, जैनेन्द्रकुमार उस 'क्लासिक्स' के चुनने की समिति के सदस्य थे। इस समिति के लिए मैंने तीन महीने अनेक संदर्भ ग्रन्थ देखकर, दिल्ली में हर प्रमुख देश के राजदूतावास में और सूचना कार्यालय में जाकर—तब तक यूनेस्को की भी 'प्रतिनिधि ग्रन्थ पूर्व-पश्चिम परस्पर ज्ञान के' सूची छपी नहीं थी—तीन सौ विदेशी 'क्लासिक्स' की सूची तैयार की थी। उसीमें से यह प्रथम पच्चीस श्रेष्ठ ग्रन्थों की सूची चुनी गयी। वृद्धजन बचपन से जिन्हें क्लासिक्स मानते आये उन्हींको चुना गया। बाद में एक बार एक परिगोष्ठी में जब मैंने कहा कि "पीढ़ी दर पीढ़ी रुचि बदलती जाती है।" टी० एस० इलियट ने कहा कि "हर युग में क्लासिक्स का नया अनुवाद होना चाहिए।" तो सी० डी० देशमुख ने परिहास में पूछा, "यदि उस ग्रन्थ के प्रति अरुचि उत्पन्न हो तो वह 'क्लासिक्स' कैसे ?"

बहरहाल, कुछ तो चुनाव गलत, कुछ अनुवादक गलत और यद्यपि फूंक-फूंककर धीरे-धीरे

क़दम हमने रखे—कृष्णा कृपलानी गुण के अधिक चाहक थे, संख्या के नहीं—फिर भी कई किताबें अभी तक अनबिकी पड़ी होंगी। कम से कम बहुत धीमे बिकीं। इस विषय में हुमायुन कबिर की एक बात ध्यान रखने लायक थी कि जिन ग्रन्थों के लेखकों की मृत्यु के बाद तीस वर्ष पूरे नहीं हुए हैं, या प्रथम प्रकाशन के बाद जिन ग्रन्थों के पचास वर्ष तक अनुवाद नहीं हुए हैं—उस समय अंतर्राष्ट्रीय कॉपीराइट का यही नियम था—उन्हीं 'आधुनिक' क्लासिक्स का अनुवाद हो सकता था। दूसरी दिक्कत यह थी कि विदेशी भाषाओं के जानकार साहित्यिक हिन्दी में कम थे। भाषा-अध्यापक, शिक्षक आदि थे पर अनुवाद के लिए साधन कम थे। अब भी विदेशी भाषाओं से हिन्दी में कितने कोश हैं ? तीसरी सबसे बड़ी कठिनाई इस बात की थी कि विदेशी ग्रन्थ के जिस अंग्रेज़ी संस्करण से अनुवाद होता वे कहां तक प्रामाणिक थे ? और आधुनिक ग्रन्थ को चुनने पर—मान लीजिये बर्नार्ड शॉ के नाटक या बरट्रेंड रसेल की पुस्तक चुनी जाती तो विदेशी मुद्रा में रॉयल्टी यह सरकारी संस्थान कैसे दे पाता ? अंतिम बात यह थी कि कुछ ग्रन्थों के अनुवाद पर उन-उन भाषाओं की सलाहकार समितियों ने प्रतिबंध लगाया। स्व० सरदार पणिक्कर ने कहा वाल्तेयर के 'कांदीद' का मलयालम में अनुवाद नहीं होना चाहिए, चूंकि वहां की एक तिहाई कैथोलिक जनता वह पसन्द नहीं करेगी (अंग्रेज़ी अनुवाद जो विदेश से आता था, कोई रोक नहीं थी), या (स्व०) कुसुमावती देशपांडे ने कहा कि जापानी ग्रन्थ 'गेंजी की कहानी' का अनुवाद मराठी में न हो, चूंकि वह अनैतिक या अश्लील है।

यों थोरो के 'वाल्डेन' का बनारसीदास चतुर्वेदी ने, 'वार एण्ड पीस' का वीर राजेन्द्र ऋषि ने, 'कांदीद' का व्रजनाथ माधव वाजपेयी ने, 'ताओ ते चिंग' का जगदीश चन्द्र जैन ने, 'बाबरनामा' का युगजीत नवलपुरी ने, मिल्टन के 'एरिओपैजेटिका' का चिंतामणि बालकृष्ण राव ने, शेक्सपियर के नाटकों का दिवाकर प्रसाद विद्यार्थी और बच्चन जी ने, 'गेंजी की कहानी' का छविनाथ पांडेय ने अनुवाद किया। कुछ छपे, कुछ देर से छपे, कुछ छपे ही नहीं, 'अज्ञेय' को वाल्ट ह्विटमैन के 'लीव्स ऑफ ग्रास' का अनुवाद दिया गया था, पर कभी पूरा ही नहीं हुआ। निर्मल वर्मा ने चैपेक के नाटक 'रोबो' का, मैंने युगोस्लाव कहानियों का, भारतभूषण अग्रवाल ने रूमानिया की कहानियों का अनुवाद किया। पर यह काम बहुत प्रतीकात्मक रूप से था। अभी बहुत बड़े पैमाने पर यह कार्य होना चाहिए। अधिक व्यवस्थित रूप से। आशा करें कि विदेश मंत्री के हिन्दी-प्रेम, हिन्दी के उत्तम वक्ता और लेखक होने से यह कार्य बढ़ेगा।

'भारतीय भाषाओं से हिन्दी में अनुवाद का कार्य एक दूसरी महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन, नागरी प्रचारिणी सभा, राष्ट्रभाषा प्रचार समितियां, हिन्दी प्रचारिणी सभा आदि अनेक संस्थाएं स्वराज्य से पहले से कार्य करती आ रही थीं। स्वराज्य के बाद केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय बना। हिन्दी ग्रन्थ अकादेमियां बनीं पर आज भी हालत यह है कि सुदूर आसाम या सुदूर कश्मीर या सुदूर कच्छ या सौराष्ट्र की भाषाओं से हिन्दी में, या हिन्दी से उन भाषाओं में मानक कोश उपलब्ध नहीं है। भाषाएं सीखने की पुस्तकें, हिन्दी माध्यम से नहीं हैं : न असमिया की, न उड़िया की, न कश्मीरी की, न पंजाबी की, न दक्षिण भारतीय चारों द्राविड़ी भाषाओं की (दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा की पुरानी छोटी पुस्तिकाओं के बाद और कुछ नहीं)। मैं बाजार में उपलब्ध अवैज्ञानिक, लोक-व्यवहार वाली पुस्तकों की बात नहीं करता। हिन्दी के भाषावैज्ञानिक और उन-उन भाषाओं के भाषावैज्ञानिकों की सलाह-सहमति से बनी 'स्टैण्डर्ड' भाषा-शिक्षक, कोश, प्राथमिक और अन्य पुस्तकों की बात कर रहा हूं।

इन साधनों के अभाव में 'अनुवाद' जैसे या 'भाषा' जैसी पत्रिकाओं में छिटपुट अनुवादों या अनुवाद विषयक लेखों से क्या होता है ? यहां भी अनधिकार चेष्टा का बड़ा बोलबाला है।

सरकारी अनुदान का किसी भी तरह उपयोग करने के लिए विभिन्न विश्वविद्यालयों में और सरकारी संस्थानों में अपने मित्रों, जातिवालों, परस्पर उपकार करने-कराने वाले भ्रष्टाचारी तरीकों के कारण सही, अनुभवी, विद्वान् और भाषाविदों को कोई नहीं पूछता। कई ऐसे लोग रातोंरात इन विषयों के अधिकारी बने बैठे हैं, जिनकी इस विषय में कोई पूर्व योग्यता नहीं है।

अब मैं भाषावार हिन्दी में क्या कुछ अन्य भारतीय भाषाओं से अनूदित हुआ है, और क्या होना चाहिए इसका सर्वेक्षण प्रस्तुत करता हूं :

पूर्व

असमिया : साहित्य अकादेमी ने युगजीत नवलपुरी से रजनीकांत बरदलै के उपन्यास 'मिरिजियारी' का अनुवाद प्रकाशित किया है। पर कितना कुछ होना शेष है। शंकरदेव के पद, लक्ष्मीकांत बेजबरुआ की रचनाएं, आधुनिक असमिया कहानी-संग्रह, लोकगीतों के अनुवाद आदि। नये उपन्यासकारों में बीरेन्द्र भट्टाचार्य के शतघ्नी का अनुवाद 'धर्मयुग' में क्रमशः छपा था। पर उन्हीं के 'हयारुहंगम्' का अनुवाद कहां हुआ? नेशनल बुक ट्रस्ट ने कुछ अनुवाद भारतीय भाषाओं के पुरस्कृत उपन्यासों से हिन्दी में कराये हैं पर असमिया से बहुत कुछ अनुवाद होना शेष है।

उड़िया : पूर्वांचल में जो स्थिति असमिया की है, वही उड़िया की है। जब मैंने साहित्य अकादेमी में 1955 में इस योजना को कार्यरूप दिया तब उड़िया से एक भी उपन्यास या कविता-संग्रह हिन्दी में नहीं आया था। हमने युगजीत नवलपुरी से गोपीनाथ महांती का 'अमृत संतान' अनूदित कराया। फकीर मोहन सेनापति का 'छह बीघा ज़मीन' और कालिंदीचरण पाणिग्राही का 'मिट्टी के खिलौने' अनूदित कराया। भारतीय ज्ञानपीठ के कराये हुए अनुवाद तो बहुत बाद के हैं। राधानाथ राय का 'चिलिका' छोड़कर और कविताएं बहुत कम अनूदित हुईं। 'कविश्री', जैसी राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा, ने अपने पचास वर्ष पूरे होने पर कुछ कवियों के मूल देव-नागरी और साथ में अनुवादावली सीरीज छापी थी, प्रत्येक भाषा से दो-दो कवियों की, वे भी अनुवाद बहुत अच्छे नहीं थे।

बांगला : हिन्दी में सर्वाधिक अनुवाद बांगला से हुए हैं और उर्दू से लिप्यंतर और अनुवाद बहुत हुए। संस्कृत के अनुवाद से भी अधिक। इसलिए कविता, नाटक, कथा-उपन्यास में बांगला के प्रायः सभी श्रेष्ठ रचनाकारों की श्रेष्ठतम कृतियां हिन्दी में उपलब्ध हैं। साहित्यिक गुण वाले ग्रन्थों के साथ-साथ लोकप्रिय पुस्तकें भी छपी हैं। जीवनियां भी। बंगाल के रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, अरविन्द जैसे दार्शनिक, नवीनचन्द्र सेन, माइकेल, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, काज़ी नजरुल इस्लाम, बुद्धदेव बसु, विष्णु दे जैसे कवि, बंकिमचन्द्र, रवीन्द्र, शरत्चन्द्र, राखाल बैनर्जी, प्रेमन्द्र मित्र, शैलजानन्द मुखोपाध्यक्ष, विभूतिभूषण, ताराशंकर बैनर्जी, प्रबोधकुमार सान्याल, समरेश बसु, प्रतापचन्द्र चंदर आदि कथा-उपन्यासकारों की नाम सूची पचास से ऊपर होगी, ग्रन्थ तो पांच सौ से ऊपर होंगे। नाटक डी० एल० राय से बादल सरकार और नवेन्दु घोष और शंभु मित्र तक अनेक। फिर भी बांगला भाषा-विशेषज्ञ बतायेंगे कि चण्डीदास, गोविन्ददास की पदावली से लगाकर जीवनानंद दास तक अनेक अच्छे कवि, कई प्रसिद्ध साहित्यिक उपन्यास और नाटक अनूदित होना शेष हैं। जब्तशुदा 'नीलदर्पण' (दीनबंधु मित्र) का कोई अनुवाद नहीं, 'यायावर' के 'दृष्टिपात' या 'अवधूत' के उपन्यासों का हिन्दी अनुवाद कहां है? नवीनतम कविताओं के भी अनुवाद कम हैं।

दक्षिण

तमिल : वैसे 'कुरल' का उत्तम अनुवाद या 'शिलप्पधिकारम्' का प्रामाणिक अनुवाद हिन्दी में कहां है ? कंबन रामायण का डॉ०न०वि० राजगोपालन का बिहार राष्ट्र भाषा परिषद् से छपा अनुवाद है। पर 'जीवक चिंतामणि' नहीं है। संगम काल की कविता पर अंग्रेजी में तीन अनुवाद उपलब्ध हैं, शेष कवियों के अनेक अनुवाद हैं—हिन्दी में नहीं। 'दिव्य प्रबंधम्' नहीं है। यू० स्वामिनाथ ऐसी की आत्म-जीवनी और सुब्रह्मण्य भारती की कविताओं के अनुवाद हिन्दी में आनंदी रामनाथन से साहित्य अकादेमी ने कराये। अनुवादिका दिल्ली में ही रहती हैं, पर उनके और कोई अनुवाद नहीं देखे। आधुनिक काल में तमिल कहानी-संग्रह दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार सभा की दिल्ली शाखा ने सन् 1966 में छापा था, मैंने भूमिका लिखी थी पर 'कल्कि' के 'चोर की प्रेमिका' या एक-दो ऐसे ही आधुनिक उपन्यासों के साहित्य अकादेमी, नेशनल बुक ट्रस्ट से अनुवादों के अतिरिक्त कई उपन्यास अननुवादित रहे हैं। नाटक तो और भी कम हैं। इंद्रा पार्थसारथी का 'औरंगज़ेब' अनूदित होकर दिल्ली के मंच पर आया पर शायद प्रकाशित होना शेष है। डी० जयकांतन, का० ना० सुब्रह्मण्यम्, जानकीरामन्, रामामृतम्, शेल्वराज आदि अनेक उपन्यासकार हैं जिनकी रचनाओं का हिन्दी में पता नहीं। डॉ० मलिक मोहम्मद ने तुलनात्मक शोध कार्य किया है।

तेलुगु : तेलुगु से श्री श्री की कविताएं, आधुनिक काल में, प्राचीन साहित्य से त्यागराज के पद, वेमना के वचन और रंगनाथ रामायण के अतिरिक्त, विश्वनाथ सत्यनारायण के 'रामायण कल्पतरु' या अनेक अच्छी पुस्तकों का हिन्दी में अनुवाद नहीं है। न दे० कृष्णशास्त्री की कविताएं हैं, न रायप्रोलु सुब्बाराव की 'तृणकंकणम्' न नारायण बाबू या अरुद्र या दाशाभी की। जबकि तेलुगु संस्कृत-बहुल है और हिन्दी में सहज अनुवाद्य है। क्यों नहीं गुरजाड अप्पाराव की पुस्तकें हिन्दी में आयीं ? गद्य में बहुत थोड़े उपन्यास तेलुगु से हिन्दी में हैं : 'नारायणराव', 'अल्पजीवी', 'सहस्रफण' आदि अपवाद हैं। नाटक भी कोई नहीं छपा, सिवा नार्ल वैंकटेश्वर राव के एकांकियों के। ऐसा क्यों हुआ ? अनुवादकों की कमी नहीं है। कई हिन्दी पी-एच० डी० हैं।

कन्नड़ : प्राचीन साहित्य में कविताओं से सर्वेश्वर के कुछ वचन छोड़कर बहुत कम अनुवाद हिन्दी में हैं। आधुनिक काल में वेंद्रे और पुटप्पा की कुछ रचनाएं भारतीय ज्ञानपीठ, राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा, ने छापीं। पर कितने और कवि हैं जिनके अनुवाद होने चाहिए। वही हाल गद्य का है। साहित्य अकादेमी ने 'शांतला' और राष्ट्रभाषा प्रचार समिति ने शिवराम कारंत का 'धरती की ओर' छापा था। उसके बाद कितने उपन्यास छपे ? अ० ना० कृष्णराव, ति०रा० सु० आदि के कुछ उपन्यास या गिरीश करनाड आदि के नाटक छोड़ दें तो और बहुत कुछ अनुवाद करने योग्य है। दक्षिण के श्रेष्ठ आधुनिक ग्रंथों के हिन्दी अनुवाद की योजनाबद्ध व्यवस्था होनी चाहिए।

मलयालम : अपेक्षतया इस भाषा से हिन्दी में अधिक अनुवाद हुए हैं। गद्य से—सरदार पणिक्कर, मुहम्मद बशीर, तकषी शिवशंकर पिल्लै के अनुवाद साहित्य अकादेमी ने कराये हैं। नेशनल बुक ट्रस्ट ने दो-तीन और उपन्यासकारों की रचनाएं छापी हैं। वल्लतोल की कविता साहित्य अकादेमी ने छापी है, अंशतः अनुवाद में, पर जी० शंकर कुरुप्प की 'ओटक्कुषल' के अलावा कोई पुस्तक नहीं। 'सामूहिक खेती' (कूट्टू कृषि) के अलावा कोई नाटक हिन्दी में नहीं। एक-दो और होंगे, जैसे ओमचेरी का 'प्रलय के बाद', जो दिल्ली में खेले गये। पर बहुत कुछ होना

शेष है। भारतीय ज्ञानपीठ की 'प्रतिनिधि भारतीय साहित्य माला' में कुछ छपा है। कुछ प्रो० विजयन (कोचीन विश्वविद्यालय) ने 'आधुनिक मलयालम कविता' जैसे अनुवाद प्रस्तुत किये हैं। कई तुलनात्मक शोध-ग्रंथ प्रस्तुत किए गए हैं। हिन्दी में पी-एच० डी० करीब एक दर्जन हैं, कालीकट, त्रिवेन्द्रम, कोचीन विश्वविद्यालयों में।

भारत के दक्षिण और पूर्व पर मैंने इतना ज़ोर इसलिए दिया है कि वहां हिन्दी अनुवाद का कार्य और अधिक होना चाहिए। मराठी, गुजराती इन पश्चिम की और पंजाबी, उर्दू इन उत्तर की हिन्दी से निकटतम भाषाओं से बहुत अनुवाद हो चुके हैं। उनमें में भी वे क्षेत्र, जिन्हें अभी छुआ नहीं गया या जिनका अनुवाद शीघ्र योजनाबद्ध ढंग से किया जाना चाहिए, उनकी चर्चा मैं यहां करता हूं। मेरी सीमाएं मुझे मालूम हैं। मेरा ज्ञान अत्यल्प है। एक प्रबुद्ध पाठक और भारतीय साहित्य की एकता के प्रेमी के नाते ही मैं यह सब लिख रहा हूं।

मराठी : महादेव शास्त्री जोशी के 'भारतीय संस्कृति कोश' के सब खंडों का हिन्दी में अनुवाद होना चाहिए। सुमंत मुरंजन के 'पुरोहित वर्चस्व' या नलिनी पंडित के 'वर्णभेद आणि वर्गभेद' का अनुवाद होना चाहिए। कई उत्तम ऐतिहासिक उपन्यास मराठी में हैं जो हिन्दी में आने चाहिए। जीवनीपरक उपन्यास बहुत-से बहुत अच्छे छपे हैं। जीवनियां कई हिन्दी में आनी चाहिए। क्रांतिकारियों की, समाजसुधारकों की, कांग्रेस से भिन्न अन्य राजनैतिक दलों के कार्य-कर्त्ताओं की। कई विद्वत्तापूर्ण संदर्भ ग्रंथ हैं जैसे चित्रावशास्त्री का 'स्थलनाम कोश' प्रो० वाडेकर का 'भारतीय तत्त्वज्ञान कोश' आदि। इस विषय में मैंने विस्तार से अपने 'मराठी साहित्य के इतिहास' में लिखा है जो 'उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान' से प्रकाश्य है। प्राचीन साहित्य से एकनाथ की रामायण, ज्ञानेश्वर का अमृतानुभव, तुकाराम की गाथा आदि बहुत-सा अनुवाद करने योग्य है।

गुजराती : नरसी मेहता या प्रेमानन्द की पदावली के साथ जीवनी पर हिन्दी में उत्तम पुस्तकें कहां हैं? साहित्य अकादेमी ने 'सरस्वतीचन्द्र', 'जीवी' आदि के अनुवाद कराये हैं। क० मा० मुंशी का सारा साहित्य हिन्दी में उपलब्ध है। पर वल्लभभाई पटेल की कई खंडों में छपी जीवनी या चन्द्रवदन मेहता या इन्दुकान्त भाई की जीवनियां हिन्दी में आनी चाहिए।

इसी तरह सिन्धी और पंजाबी से भी बहुत-सा ऐसा साहित्य हिन्दी में आना चाहिए जो उन भाषा-भाषियों को हिन्दी भाषा-भाषियों से जोड़े। पहले तो ऐसी संपूर्ण सूचियां उपलब्ध होनी चाहिए कि भारत के विभिन्न प्रदेशों और प्रादेशिक भाषाओं से हिन्दी में क्या-क्या उपलब्ध है? फिर उन भाषा के विद्वानों और विशेषज्ञों से ऐसे दस श्रेष्ठ आधुनिक ग्रंथों के नाम मंगाने चाहिए, जो हिन्दी में आकर, उनकी दृष्टि से, हिन्दी साहित्य को समृद्ध करेंगे और जिनसे राष्ट्रीय एकता का सूत्र बढ़ेगा। फिर हिन्दी भाषा-भाषी प्रदेशों के सब विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभागों में जो अहिन्दी-भाषी छात्र एम० ए० या पी-एच० डी० कर रहे हैं, उनसे अपनी परीक्षा में पर्चों के बदले एक उत्तम तत् भाषा साहित्य की उत्तम कृति का अनुवाद हिन्दी में उपलब्ध कराना चाहिए। उन रचनाओं के प्रकाशन की भी समुचित योजना होनी चाहिए। कोई हिन्दी-सेवी या हिन्दी-प्रेमी पूंजीपति यदि हैदराबाद, मद्रास, मैसूर, त्रिवेन्द्रम में एक साथ शाखाएं खोलकर दक्षिण की हर भाषा की 25-25 पॉकेट बुक्स अनूदित कर हिन्दी में छापे, तो देखिये क्या चमत्कार होगा? वहां के लेखकों को अधिक रायल्टी मिलेगी। सौ उत्तम दक्षिण भारतीय साहित्यिक पुस्तकों का एक 'सेट' हिन्दी में मिल जायेगा। □

हिन्दी भाषा की गतिशीलता

बाबू जगजीवन राम

□ □

भाषा नदी की धारा की भांति प्रवहमान होकर अपना मार्ग स्वयं बनाती जाती है। इसे किसी आश्रय की आवश्यकता नहीं। भाषा भाव को व्यक्त करने का प्रमुख साधन है। यूं तो संगीत, नृत्य, वाद्य एवं मूर्त्ति आदि कलाओं के माध्यम से भी भाव प्रकट किये जा सकते हैं किन्तु इन साधनों से विचारों का आदान-प्रदान नहीं हो पाता। विचारों के आदान-प्रदान की शक्ति केवल भाषा में ही है। इसलिए यह प्रवहमान बनती है।

भाषा का रूप परिवर्तनशील है। भिन्न-भिन्न प्रदेशों, देशों और मानव समाजों के सम्पर्क में आने से प्रभावित होकर भाषा का रूप बदलता रहता है। भाषा-विज्ञान और भाषा-शास्त्र की दृष्टि से भी यही सिद्ध होता है कि भाषा परिवर्तनशील है।

भारत बहुभाषी देश है। यहां की 60-62 करोड़ की जनसंख्या में से अधिकांश जन हिन्दी या हिन्दी से प्रभावित या हिन्दी के अनुरूप प्रायः भाषा का प्रयोग करते हैं। देश के स्वतंत्रता-आंदोलन की भाषा हिन्दी होने के कारण इसका प्रचार अहिन्दी-भाषी क्षेत्रों में भी हुआ। इसलिए संविधान में अधिसंख्यक जनता द्वारा बोली और समझी जाने के कारण इसे राष्ट्रभाषा अर्थात् जनसम्पर्क की भाषा एवं राजभाषा के रूप में स्वीकार किया गया है।

हिन्दी भारत की राष्ट्र और राजभाषा तो है ही, इसका प्रचार देश की भौगोलिक सीमाओं को पार करके पड़ोसी देशों में भी पहुंच चुका है। जहां-जहां भारतीय मूल के प्रवासी बसे, वहां भी हिन्दी का व्यवहार, इसकी शिक्षा और साहित्य बढ़ना आरम्भ हो गया। भारतीय मूल के प्रवासियों के साथ-साथ उनकी भाषा ही नहीं, उनकी संस्कृति भी विदेशों में पहुंची। अनुमान है कि लगभग 80-85 देशों में भारतीय मूल के प्रवासी पहुंचे हुए हैं। उनमें बर्मा, श्रीलंका, जावा, सुमात्रा, फ़िज़ी, गुयाना, केन्या, मोरीशस, सिंगापुर, सूरीनाम, जमाइका, ट्रिनीडाड आदि प्रमुख देश हैं। विदेश में प्रवासी भारतीय मूलतः चाहे किसी भाषा या उपभाषा का प्रयोग करने वाले हों, जब विदेशों में मिलते हैं तो उनके विचारों के आदान-प्रदान की भाषा प्रायः हिन्दी ही बन जाती है। यह बात दूसरी है कि कुछ शिक्षित वर्ग अंग्रेज़ी शिक्षा के कारण परस्पर अंग्रेज़ी का प्रयोग करता हो।

विदेशों में हिन्दी के प्रचार-प्रसार का कारण भारतीय प्रवासी तो हैं ही, इसके अन्य अनेक और कारण भी हैं; जैसे, यहां के प्राचीन धार्मिक ग्रन्थों, सभ्यता तथा संस्कृति के प्रति विदेशों में आकर्षण होने के कारण उन्होंने इनसे ज्ञान प्राप्त करने के लिए और इनका रसास्वादन करने के

लिए संस्कृत तथा हिन्दी सीखी और इन ग्रन्थों का हिन्दी या संस्कृत से अनुवाद भी किया। रूस में तो रामायण जैसे वृहद् ग्रन्थ का अनुवाद भी हो चुका है।

हिन्दी का विदेशों में प्रचार-प्रसार का एक ऐतिहासिक कारण यह भी है कि भारत सौ वर्षों से भी अधिक समय तक अंग्रेज़ों के अधीन रहा। इस अवधि में हिन्दी और अंग्रेज़ी का संबंध स्थापित होना स्वाभाविक था। अंग्रेज़ी पर हिन्दी और हिन्दी पर अंग्रेज़ी का प्रभाव पड़े बिना न रह सका। अंग्रेज़ी भाषा और अंग्रेज़ी के साथ हिन्दी भी विदेशों में गयी। दोनों भाषाओं के साहित्य का एक से दूसरी भाषा में विपुल अनुवाद हुआ। यही नहीं, हिन्दी की शिक्षा विदेशी विश्वविद्यालयों में दी जाने लगी और अब लगभग 100 विश्वविद्यालयों में हिन्दी का पठन-पाठन हो रहा है। इन देशों में हिन्दी साहित्य और हिन्दी जानने वालों की संख्या में भी वृद्धि हुई है। दक्षिणपूर्व एशिया के देश इस दिशा में विशेष रूप से अग्रणी हैं।

भारत सरकार ने भी विदेशों में हिन्दी प्रचार-प्रसार की एक योजना तैयार की है जिसके अन्तर्गत जहां भारत मूल के प्रवासी अधिक संख्या में रहते हैं उन देशों में हिन्दी प्रचार करने वाली स्वैच्छिक संस्थाओं को भारत सरकार की ओर से अनुदान दिया जाता है। अभी ऐसे थोड़े देश ही हैं जहां इस प्रकार की सहायता की व्यवस्था है।

हिन्दी का विदेशों में प्रचार करने के सरकारी प्रयास के अतिरिक्त हमारे देश की हिन्दी साहित्य सम्मेलन, राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा आदि कुछ ऐसी हिन्दी प्रचारक संस्थाएं हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी सम्मेलन आदि आयोजित करके विदेशों में हिन्दी का प्रचार करती हैं। अभी 3-4 वर्ष पूर्व ही नागपुर में एक विश्व हिन्दी सम्मेलन हुआ था जिसमें लगभग 30 देशों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया था और अपने हिन्दी-ज्ञान का परिचय दिया था। इस अवसर पर कुछ विदेशी कलाकारों ने 'अंधायुग' नामक एक हिन्दी नाटक का मंचन भी किया था। इसी अवसर पर 'नागरी लिपि परिषद्' की भी स्थापना की गयी थी जो सफलतापूर्वक इस दिशा में कार्य कर रही है। इसी सम्मेलन से प्रेरित होकर पिछले एक-डेढ़ वर्ष पूर्व मोरीशस में भी एक विश्व हिन्दी सम्मेलन का सफलतापूर्ण आयोजन किया गया। इस सम्मेलन में भारत के विद्वानों और हिन्दी-प्रेमियों के अतिरिक्त अनेक अन्य देशों के प्रतिनिधियों ने भी भाग लिया था।

हिन्दी के प्रचार की पूर्वोक्त सफलताओं एवं सरकारी और गैर-सरकारी प्रयत्नों को देखते हुए हिन्दी का अंतर्राष्ट्रीय भविष्य उज्ज्वल जान पड़ता है। □

लुईफिशर का डायरी लेखन

अमेरिका के प्रसिद्ध पत्रकार लुई फिशर राष्ट्रपति रूज़वेल्ट से मिलने के लिए चल पड़े। अचानक सीढ़ी के पास आते ही उन्हें एक बात याद आ गयी और सोचा कि उसे डायरी में नोट कर लूं। जेब से डायरी तथा पेंसिल निकालकर लिखने लगे। अपनी समझ से वे खड़े होकर लिख रहे थे, पर दरअसल में वे चलते-चलते लिख रहे थे। नतीजा यह हुआ कि ज़ीने से लुढ़कते हुए नीचे आ गए।

रार्जषि टंडन : हिन्दी साधक के संस्मरण

पं० कमलापति त्रिपाठी

□ □

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन के संपर्क में रहने और उन्हें निकट से देखने का सौभाग्य मुझे मिला है। वे देश की एक महत्त्वपूर्ण विभूति थे और हिन्दी को साम्प्रदायिकता से परे एक विशुद्ध राष्ट्रीयता का प्रश्न मानते थे। इस प्रश्न पर उनका महात्मा गांधी और श्री जवाहरलाल नेहरू से भी मतभेद था, किन्तु केवल वैचारिक स्तर पर। गांधीजी और नेहरूजी का आग्रह हिन्दुस्तानी के लिए था, पर टंडनजी हिन्दी के पक्ष में डटे रहे। अनेक अहिन्दी-भाषी सदस्यों ने भी टंडनजी का साथ दिया और अन्ततः रोमन अंकों के साथ देवनागरी लिपि में हिन्दी को राजभाषा के रूप में स्वीकार कर लिया गया।

नैनी जेल में मुझे उनके साथ रहने तथा उनके व्यक्तित्व और कृतित्व को निकट से देखने का सुअवसर मिला। मुझे स्मरण है कि जब एक बार जेल में उनके स्वास्थ्य में गिरावट आयी और उनका वज़न कम होने लगा, तो हम लोगों के साथ-साथ जेल अधिकारियों को भी चिंता हुई और सभीने आपस में विचार करके यह निश्चय किया कि टंडनजी से कुछ दूध पीने का आग्रह किया जाये, ताकि उनका स्वास्थ्य ठीक रह सके। मुझपर उनकी विशेष कृपा और स्नेह था, अतएव यह दायित्व मुझे सौंपा गया। मैंने उनसे उनके स्वास्थ्य के हित में थोड़ा दूध नियमित रूप से लेने का अनुरोध किया। इसपर वे कुछ क्षुब्ध होकर बोले, "दूध पीना तो मैं तस्करता मानता हूं। गाय का दूध तो उसके बच्चे के लिए है, अतएव उसका अंश मैं कैसे ग्रहण कर सकता हूं ?" टंडनजी के जीवन में नैतिकता का यह स्तर था !

आज़ादी के बाद मुझे उस समय उत्तरप्रदेश विधानसभा का सदस्य रहने का सुअवसर मिला, जब टंडनजी उसके अध्यक्ष थे। अपने आचरण और कार्यशैली से उन्होंने विधानमण्डल की गौरवपूर्ण गरिमा और श्रेष्ठ स्तर का जो मानदण्ड स्थापित किया, वह भारत के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेगा। मुझे स्मरण है कि भाषा और संस्कृति विषयक उनके तेजस्वी विचारों को लेकर उनके विरुद्ध कुछ सदस्यों में फुसफुसाहट शुरू हुई। उन्हें इसका पता चला तो उन्होंने एक दिन विधानसभा में यह स्पष्ट घोषणा की कि यदि सदन का एक भी सदस्य उनपर अविश्वास करता है और वह सदन में इसे प्रकट कर देता है तो मैं उसी समय अध्यक्ष-पद छोड़ दूंगा।

उनका नैतिकतापूर्ण आचरण छोटी-छोटी बातों में भी दिखाई पड़ता था। सरकार की ओर से उन्हें जो गाड़ी दी गयी थी, उसका उपयोग वे केवल घर से विधानसभा जाने और वापस घर आने के लिए ही करते थे अथवा किसी राजकीय समारोह आदि में वे उसमें बैठकर जाते थे। अन्य कार्यों के लिए वे इस गाड़ी का उपयोग नहीं करते थे और वह गाड़ी घर में खड़ी रहती थी। □
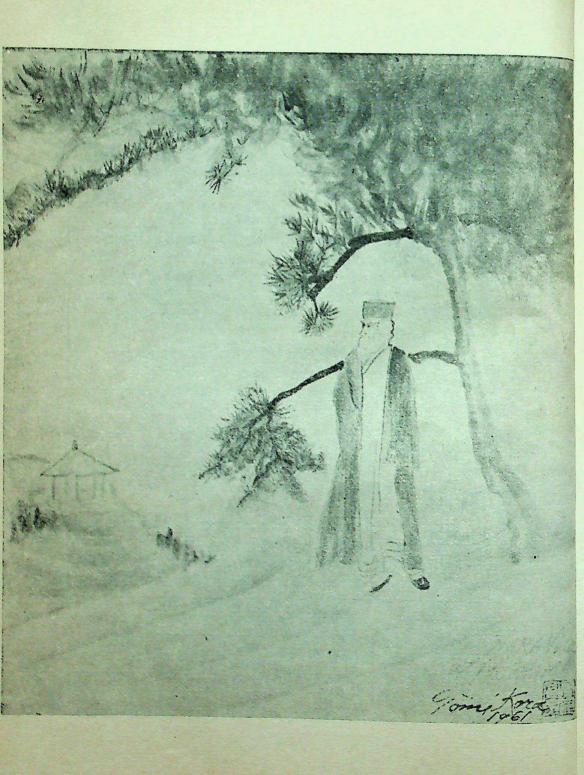
जापान के नैसर्गिक सौन्दर्य के बीच विश्वकवि की काव्य निर्झरणी

श्रीमती कमला रत्नम्

□ □

विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर जब अपनी प्रथम जापान-यात्रा में थे तो एक दिन योकोहामा में उनकी जिन्ज़ो नारुसे से भेंट हुई। ये विमेन्स यूनिवर्सिटी के अध्यक्ष थे और इन्होंने कवि को कुछ दिन कारुइज़ावा में अपनी छात्राओं के साथ बिताने का निमन्त्रण दिया था। गुरुदेव ने निमंत्रण स्वीकार कर लिया और 13 अगस्त, 1916 को वे दो सप्ताह के लिए कारुइज़ावा पहुंच गये।

कारुइज़ावा में जापान के प्रसिद्ध पूंजीपति मित्सुइ का भवन टैगोर के रहने के लिए ठीक किया गया। भवन के पीछे गहरे नीले और बैंगनी रंगों में रंगी कारुइज़ावा की दो भव्य पर्वत-श्रेणियां अपना सिर उभारे खड़ी हैं। जापानी इन्हें नानताइ और मेताई के नाम से, पति-पत्नी रूप में, पुकारते हैं।

भवन के सामने एक चबूतरा है जिसके एक ओर बरगद के समान विशाल तने और चौड़े छत्र वाला महावृक्ष है। न जाने कितनी वर्षा, भूकम्प और तूफ़ानों से बचकर यह वृक्ष अभी तक खड़ा हुआ है। प्रतिदिन सूर्य इसी वृक्ष के पीछे दोनों पहाड़ियों के बीच अस्त होता है। सन्ध्या समय ऐसा दृश्य होता है मानो प्रकृति सुन्दरी अपने उन्नत उरोजों के बीच प्रज्वलित रक्तमणि धारण किये हुए हो। मैं लगातार कई दिन इस चबूतरे से सन्ध्या समय सूर्यास्त का दृश्य देखने आती रही। धीरे-धीरे वर्षों के आवरण हटने लगे और उस पवित्र स्थान ने अपने हृदय का रहस्य खोल दिया। गुरुदेव प्रतिसंध्या इसी वृक्ष के नीचे ऋषि मुद्रा में बैठकर आश्रमवासी लड़कियों से बातचीत करते हैं, उन्हें उपदेश देते हैं, ब्रह्म का साक्षात्कार कराते हैं। प्रातःकाल के झुटपटे में उनकी खुली खिड़की के पास चिड़ियां जो संदेशा लाती हैं उसे सुनते हैं, और क्षण में यह संदेश कविता के मोती बन उनके मन में उतर आता है। प्रतिसन्ध्या को गुरुदेव प्रसाद के रूप में इन मोतियों को लड़कियों को दे देते हैं। जापानी लड़कियां पुष्पप्रसाधित कौषेय किमोनो पहने घुटनों को मोड़ हिमधवल ताबी से मढ़ी एड़ियों पर बैठती हैं। चारों ओर दार्शनिक, कलाकारों, शिक्षकों और चित्रकारों की भीड़ लग जाती है। लड़कियां प्राच्य आदर और श्रद्धा से कवि की वाणी की प्रत्येक तरंग को श्रुतिपुटों द्वारा सादर ग्रहण करके हृदयंगम करती हैं और धीरे से वक्षःस्थल पर खुलने वाले किमोनो के ऊपरी भाग से नोटबुक पैंसिल निकाल कर उन्हें लिपिबद्ध कर लेती हैं। वे लड़कियां आज वृद्धा हो गयी हैं। इनमें एक तोमिको भी है। समय ने अपनी लकीरों से उनके चेहरों पर बहुत कुछ लिख दिया है परन्तु उनके हृदयों पर लिखी कवि की वाणी आज भी धुंधली नहीं हुई। दशकों पुराने वे शब्द आज भी उसी प्रकार उनकी नोटबुकों में जीवित हैं। अपने वृद्ध

हाथों से नोटबुक के पन्ने उलटते हुए, आंखों में स्मृति के बादल भरे वे उन पंक्तिओं को इन पंक्तिओं की लेखिका को जापान में ही सुनाती हैं, इस नाते से कि दोनों भारतीय हैं।

गुरुदेव के उपदेश का समय संध्या चार बजे है। उत्तर का शिथिल ताम्रवर्ण सूर्य उनके सिर के पीछे उतर आया है। क्रिश्चियन धार्मिक कलाकृतियों (आइकोन) में चेहरों के पीछे जैसे प्रभामण्डल रहता है उसी प्रकार का स्वर्गीय सौवर्ण आभामण्डल कवि के सिर और कन्धों के पीछे आ गया है। शुभ्र मुखकान्ति लाल किरणों से गुलाबी हो गयी है। विशाल तरल नेत्र अनन्त प्रेम के असंख्य डोरों से श्रोताओं के मनों को अपनी ओर निर्निमेष देखती आंखों की पुतलियों के बिन्दु से खींचकर अपने में बांधे हैं। श्मश्रुओं के श्वेत बाल चांदी की तरह चमक रहे हैं। मुख से काव्यमुक्ता झर रहे हैं :

1. नूतन कली अपना मुकुल खोलती है और कहती है,
"प्यारी दुनिया ! तुम मुरझाओ मत।"
2. ओस की कली झील से कहती है,
"तुम कमलपत्र के नीचे ओस की बड़ी बूंद हो—
मैं उसके ऊपर हूं।"
3. जलती हुई लकड़ी फट जाती है और अपनी ज्वालाओं में कहती है :
"यही मेरा पुण्य है—मेरी मृत्यु।"
4. "मेरी ओस की बूदें सूख गयी हैं।" पुष्प आकाश से कहता है
जिसके सब तारे पुंछ चुके हैं।

और ये कविताएं जापानी मस्तिष्क के आगे मनुष्य और प्रकृति के अविच्छिन्न सम्बन्ध तथा 'संसार एक कुटुम्ब है' के आदर्श उपस्थित करती हैं। पहली बार जापानी हृदय यह अनुभव करने लगता है कि विश्व की चेतना एक है। वह राष्ट्रों में खण्डित नहीं हो सकती, जड़ और चेतना में भी विभक्त नहीं हो सकती। कवि की संवेदना में वह प्रकृति और मनुष्य के तादात्म्य को देखती है। इन सभाओं में कवि की मूलवाणी का सौंदर्य अनुवाद द्वारा नष्ट नहीं होता था। टैगोर यहां अंग्रेज़ी में बोलते थे और यद्यपि कुछ लड़कियां अंग्रेज़ी नहीं जानती थीं फिर भी वे उनके हृदय से भी गहरी आत्मा को छू लेते थे। 'स्ट्रे बर्ड्स' और 'फायर फ्लाइज़' जुगनू की सभी कविताएं इसी प्रकार अंग्रेज़ी में लिखी गयीं। कवि जब बोलना बन्द करते तो दोनों पहाड़ियों के शिखर नीले और बैंगनी रंगों में रंगे होते और अन्धकार के घिरते-घिरते उनका भाषण समाप्त हो जाता।

कारुइज़ावा के बंगले में दो खण्ड थे। टैगोर का कमरा ऊपरी खण्ड में था और कालेज की लड़कियां स्वयं अपने हाथों से उनके कमरे की सफाई करती थीं। ये काम वे तीसों लड़कियां ऐसे समय पर करतीं जब गुरुदेव भोजन के कमरे में होते या पास कहीं और होते। उनके हाथ इस प्रकार काम करते जिससे कवि को जरा भी आहट न हो और उनके काम में विघ्न न पड़े। यह कौशल जापानी महिलाओं में ही है कि उनके हाथों की सेवाओं को कोई देख नहीं पाता। कोमल तृण-निर्मित तताभी से ढके हुए फर्श के कारण भी इस काम में सहायता मिलती है। तोमिको कहती है कि कवि बड़ी ही सावधानी से सिर के एक-एक बाल को संवारते थे और फर्श पर गिरे उनके चांदी के बालों को ये लड़कियां अत्यन्त प्रेम से उठाकर पतले बहुमूल्य कागज के टुकड़ों में लपेटकर रख लेती थीं। गुरुदेव इस बात से बहुत प्रभावित हुए और इसके बारे में कहा भी करते थे।

19 अगस्त, 1916 को गुरुदेव भोर होते ही उठ गये। ऊपर खण्ड में अपने कमरे की

खिड़कियों को उन्होंने पूरा खोल दिया तथा कोमल तृण के बने फर्श पर रेशमी गद्दी पर बैठकर वे प्रभात की हलकी रोशनी में बाहर का दृश्य देखने लगे। प्रकृति मुग्धा उत्कण्ठिता नायिका की भांति खुली खिड़कियों से प्रवेश कर कवि के अंग-प्रत्यंग से लिपट गयी। सुरभित वायु के झोंके केशभार को उलट-पलट करने लगे। पक्षियों के प्रभातगान श्रुतिपुटों को मधुविह्वल करने लगे। कवि का हृदय जाग उठा और श्वासगति तीव्र हो गयी। दूर पश्चिम में पहाड़ियों के निकट चन्द्रमा अभी अस्त नहीं हुआ था। प्रभात के ब्राह्म मुहूर्त में रविकिरणों ने उसकी सुषमा को अभी नहीं लूटा था, और उसके चमकते हुए हृदय पर मृगलांछन स्पष्ट दिखाई पड़ रहा था। दूर हटकर एकाध तारे, आकाश में टिमटिमा रहे थे। और स्वर्ग से झरती सुषमा पुंजीभूत होकर नीचे नदी के रूप में पर्वतों की गोदी में अपने संकुचित कलेवर को समेटे चांदी की एक पतली रेखा की भांति बहती चली जा रही थी। दोनों किनारों के शुभ्र बालुकाप्रस्तर पर उसके यौवनकाल की लहरों की व्यग्र क्रीड़ा चारु आकृतियों में अंकित थी। अचानक गगन के पश्चिम प्रान्त में उड़ता हुआ एक अभ्रदल आ पहुंचा। उसी क्षण पूर्व दिशा आरक्त हो गयी और जनमते सूर्य की पहली किरणों ने प्रभात का दिव्य मुकुट अभ्रखण्ड को पहना दिया।

ब्राह्म मुहूर्त में यह दिव्य दृश्य कविता की रत्नमणियों के रूप में कवि के हृदय में उतर आया और संध्या के चार बजते-बजते सभा में उन्होंने लड़कियों को निम्नलिखित कविताएं सुनायीं :

5. यह वृक्ष उठता हुआ मेरी खिड़की के निकट आ रहा है,
   मानो मूक पृथ्वी की व्याकुलता भरी पुकार हो।
6. चन्द्रमा का प्रकाश सारे गगन पर छाया है,
   उसका लांछन अपने हृदय में सीमित है।
7. महान् निर्भय होकर छोटों के साथ चलते हैं,
   मध्यम अपने को अलग रखते हैं।
8. तारों को जुगनुओं का अनुसरण करने में,
   भय नहीं लगता।
9. "मैं तुम्हारी लहरों को पकड़ नहीं सकता" किनारा नदी से कहता है,
   "परन्तु अपने चरण-चिह्न मुझे हृदय में रखे रहने दो।"
10. ईश्वर का सिर लज्जा से झुक जाता है जब
    समृद्ध उसकी कृपा की डींग हांकते हैं।
11. ईश्वर को मनुष्य के दीपक अपने महान् तारों से अधिक प्रिय है।
12. बादल का टुकड़ा आया और आकर चुपके से आकाश के एक कोने में खड़ा हो गया,
    प्रभात के दिव्य प्रकाश ने उसे मुकुट पहना दिया।

लड़कियां आनन्द-विभोर हो गयीं और कविताएं उनकी नोटबुकों में लिख गयीं। कवि का आज दानभाव था। जापानी स्त्रियों की सौंदर्यप्रियता, कर्तव्यपरायणता, परिश्रम और सेवाभाव की उन्होंने सराहना की। आज वे उनकी परिचर्या और स्नेह का मोल चुका देना चाहते थे। सूर्यास्त में समय बाकी था और उन्होंने निम्नलिखित कविताएं विशेष रूप से स्त्रियों को संबोधित करते हुए पढ़ीं :

13. अपनी उंगलियों के सौन्दर्य से तुमने मेरी वस्तुओं को छुआ और उनमें क्रमबद्धता
    संगीत के समान मुखरित हुई।
14. बल अपने आखेट की यन्त्रणा की कृतघ्नता समझता है।

15. ईश्वर हमसे अपने भेजे पुष्पों के प्रत्युत्तर की आशा रखता है,
    सूर्य और पृथ्वी के नहीं।
16. भिड़ समझती है कि मेरी पड़ौसी मधुमक्खियों के मधुकोष बहुत छोटे हैं। उसकी पड़ौसी उससे कहती है कि इससे भी छोटा बनाओ।
17. छोटी घास ! तुम्हारे चरण बहुत छोटे हैं परन्तु अपने पैरों के नीचे तुमने पृथ्वी को जकड़ रखा है।
18. प्रतिध्वनि अपनी जन्मदात्री की हंसी उड़ाती है, यह सिद्ध करने के लिए कि वह भूल है।
19. स्वप्न पत्नी है जो बोलती ही रहती है,
    निद्रा पति है जो चुपचाप यन्त्रणा उठाता है।
20. पथ के किनारे की घास ! तारों से प्रेम कर और तब तेरे
    स्वप्न पुष्पों के रूप में खिल आयेंगे।
21. हृदय के क्षितिज पर दूरी बहुत दूर दिखाई देती है।

लड़कियां कृतज्ञता से नतमस्तक हो गयीं। घुटने टेककर कमर से नीचे झुककर उन्होंने कवीन्द्र को प्रणाम किया। परन्तु आज कवीन्द्र की जिह्वा पर स्वयं सरस्वती आकर बैठ गयी थी। उनकी वाणी रुकती न थी, शीघ्र ही दो दिन बाद कारुइज़ावा से विदा लेने का समय आ रहा था, कवि का हृदय भावों से भरा हुआ था। उन्होंने पर्वतों के तोरण के मध्य दूर पश्चिमी क्षितिज पर पृथ्वी पर अपनी समस्त सम्पदा लुटाते हुए सूर्य के औंधे घट को हाथ जोड़कर नमस्कार किया और कहा :

22. "सूर्य और आकाश दोनों पश्चिमी समुद्र में निमग्न होने जा रहे हैं
    परन्तु सूर्य अपना प्रणाम पूर्व को छोड़े जा रहा है।"

इस दिन बार-बार कवि के मन में सूर्य का प्रतीक उदय हो रहा था। उन्होंने कहा पश्चिम के लोग जितना चाहें पूर्व के देशों का तिरस्कार करें परन्तु प्रचण्ड मार्तण्ड अपना प्रणाम पूर्व के लिए ही छोड़ जाता है। अचानक कवि दर्शन की ओर मुड़े और लड़कियों को प्राचीन उपनिषदों के प्रार्थनामार्ग पर ले जाने लगे। मुंह से ऋषिवचन झरने लगे :

असतोमा सद्गमय।
तमसोमा ज्योतिर्गमय ।।
मृत्योर्मा अमृतं गमय ।।।

जापानी लड़कियों ने इन आर्ष वाक्यों को भी अपनी नोटबुकों में लिख लिया. उनके अर्थों पर मनन किया। अन्त में समस्त सृष्टि की एकरूपता दिखाते हुए कवि ने 'तत्त्वमसि' कहकर भाषण समाप्त किया। लड़कियां मानों मंत्रमुग्ध अपने स्थान से उठीं और संध्या के बढ़ते अंधकार में धीरे-धीरे चुपचाप घर के अन्दर विलीन हो गयीं।

कारुइज़ावा में टैगोर प्रातः तीन बजे उठ जाते थे तथा भोर के क्षणों में अपने कमरे से नीचे फैले हुए सौन्दर्य को देखा करते थे। उनके कान पक्षियों के उठते हुए कलरव और गिरते हुए पत्तों के मर्मर सुनने की ओर लगे रहते थे। ऐसे ही समय एक दिन उन्होंने यह गीत लिखा :

23. ग्रीष्म की पथभूली चिड़ियां मेरी खिड़की पर आती हैं,
    गीत गाकर उड़ जाने के लिए।
    और शरत् के पीले पत्ते चुपचाप उड़ते हैं और
    एक निःश्वास के साथ नीचे गिर पड़ते हैं।

24. प्रभातकालीन चिड़ियों का गीत पृथ्वी की प्रतिध्वनि है।

कारुइज़ावा के बंगले के निकट बांस, पाइन और सिंदूर के बड़े-बड़े उपवन हैं। वर्षाकाल में जापानी बालक छोटी-छोटी टोकरियां लिये यहां छत्री इकट्ठा करने आते हैं। गुरुदेव दिन में टहलते समय प्रायः इन बालकों से खेला करते थे। एक दिन पहाड़ियों के प्रान्त भाग में टहलते-टहलते गुरुदेव ने यह कविता लिखी :

25. पर्वत बालकों की किलकारी के समान है जो अपने हाथों को
ऊंचा उठा रहे हैं तारों को पकड़ने के लिये।

एक दिन प्रातःकाल सूर्योदय से पहले चन्द्रमा को आकाश में स्थित देखकर रवीन्द्र पूछने लगे :

26. शशि ! तुम किसकी प्रतीक्षा कर रहे हो।
रवि को प्रणाम करने की, जिसके लिये मुझे
स्थान खाली करना है।

कवि को अक्सर अपने नाम के अर्थ का ध्यान रहता था। जापान से उनके सहज निष्काम प्रेम के मूल में उनके अवचेतन के रवि के जन्मस्थान प्राची की भावना भी अपना काम करती रहती थी। जापान तो सदा से 'सूर्योदय के देश' के नाम से विख्यात रहा है।

निकटवर्ती जंगल में दावानल लगा देखकर कवि बोले :

27. धुआं आकाश से और भस्म पृथ्वी से इस बात की डींग हांकते हैं
कि वे अग्नि के भाई हैं।

कभी चुपचाप अपने कमरे में कवि शय्या पर लेटे रहते और कविता मन में उतरती :

28. मैं उस मार्ग की तरह हूं, जो रात्रि में चुपचाप अपनी स्मृतियों की पदचाप सुनता है।

कभी इन कविताओं में ज्ञान और नीति का समावेश हो जाता :

29. ओ फल ! तुम मुझसे कितनी दूर हो ?
ओ पुष्प ! मैं तो तुम्हारे हृदय में छिपा हुआ हूं।

30. धनुष बाण के कान में धीरे से कहता है,
'तेरी स्वतंत्रता मेरी है।'

31. राकेट ! तारों के प्रति तुम्हारा अपमान ही
पृथ्वी पर लौट कर तुम्हारा पीछा करता है।

32. चिड़ियां समझती हैं कि मछली को हवा में सैर कराना
उनके प्रति दया का कार्य है।

कभी-कभी इन कविताओं में शुद्ध कवित्व की प्रतिभा होती :

33. रात्रि का अंधकार वह थैला है जो उषा के स्वर्णभार से फट जाता है।

34. मध्यरात्रि का झंझावत असमय अंधेरे में नींद से उठाये
राक्षस बालक की भांति खेलने और चिल्लाने लगा है।

कभी उस परम-प्रियतम अनन्त के प्रति सर्वथा आत्म-समर्पण :

35. जब सूर्य पश्चिम की ओर नीचे जाता है तब उसकी अंतिम संध्या उसके सामने नीरव खड़ी रहती है।

36. ये छोटी चीज़ें जो मैं अपने पीछे छोड़े जा रहा हूं, यह मेरी प्रियतमा के लिए है,
बड़ी चीज़ें तो सबके लिए हैं।

अक्सर भोजन करते समय, उपवनों में भ्रमण करते समय लड़कियां कवीन्द्र को घेरे

रहती थीं और उपयुक्त अवसर पाकर उनसे अपने पंखों पर, रेशमी रूमालों पर अथवा चित्र बनाने की कापियों पर कविता लिखने को कहती थीं। जापानी ब्रश और काली स्याही से लिखी ऐसी आशुकविताएं बहुत बड़ी संख्या में जापानी घरों में व्यक्तिगत रूप से संगृहीत हैं। यदि कभी कोई इनका संग्रह करेगा तो एक अच्छा चित्रमय ग्रंथ बन जायेगा क्योंकि सुन्दर वस्तुओं पर तूलिका से लिखी ये कविताएं बिल्कुल चित्रों की तरह लगती हैं। प्रत्येक कविता के अंत में अंग्रेज़ी या बंगला में कवि के हस्ताक्षर हैं। बांस की रेशम के समान पतली और चिकनी तीलियों से बने एक लड़की के पंखे पर कवि ने लिखा :

37. मैं खिड़की के पास बैठकर नीरव निस्तब्ध हो जाया करता था अपना भाषण लिख लेने के बाद विश्राम लेने के लिए।

—रवीन्द्रनाथ टैगोर

38. ये छोटे-छोटे छन्द मेरे मस्तक में पत्रों के मर्मर की भांति हैं, इनका अपना आनन्द है।

—रवीन्द्रनाथ टैगोर

अंत में वह दिन आ पहुंचा जब गुरुदेव अपनी छात्राओं से विदाई ले रहे थे। कारुइज़ावा से ट्रेन रात को चलती थी। सब लड़कियां हाथों में पतले रंगीन कागज़ों की बनी गोल जापानी लालटेनें लिए उन्हें विदा करने स्टेशन पर आयीं। लालटेनों के पारदर्शी लाल कागज़ पर काली स्याही से ब्रश की सहायता से यात्रा के शुभसूचक मंगलचिह्न बड़े-बड़े आकारों में खिंचे हुए थे। संसार के सभ्य समाजों में शरीर के कोमलतम गोपनीय अंगों का प्रदर्शन करना अभद्रता समझा जाता है, परन्तु सभ्यता के सिरमौर जापान में अधिक रोने या हंसने के रूप में अपने गोपनीय कोमल भावों का प्रदर्शन करना भी अभद्रता और शिष्टाचार के विरुद्ध समझा जाता है। पर आज शताब्दियों के कठोर जापानी शिष्टाचार के नियंत्रण पर भारतीय कवि के प्रेम ने विजय पायी; लड़कियां फूट-फूटकर रो रही थीं। महाकवि ने विदाई के क्षणों में करुणाद्रवित स्वर में कविताओं का मुक्ताहार उपहार में दिया। वृद्धा तोमिको अपनी घिसी हुई डायरी के पन्ने उलटती हैं, और चश्मे के भीतर से आंसुओं में तैरती हुई छोटी-छोटी आंखों से पूरा प्रयत्न करते हुए करुणा-विगलित स्वर में पढ़ती हैं :

39. नारी, तूने जगद्हृदय को अपने आंसुओं की गंभीरता से इस प्रकार घेर रखा है जैसे सागर ने पृथ्वी।
40. संसार भागता निकल जाता है,
    बिलंब करते हुए हृदय की वीणा के तारों पर से करुणा का संगीत बजाते हुए।
41. इस अनजानेपन का स्वप्न देखते-देखते जाग पड़ते हैं और पाते हैं कि हम एक-दूसरे के निकट प्रिय हैं।
42. हमारा ही कमल यहां किसी सुदूर आकाश के नीचे खिलता है किन्तु उसका नाम दूसरा है।
43. तुम्हारी स्मृति मेरे लिए तुम्हारे खेतों में फूले फलों जैसी थी, तुम्हारी बातचीत तुम्हारे पर्वतों के पाइनवृक्षों के मध्य खेलते समीर के समान थी, तुम्हारा हृदय नारी का था; यह हम सबको विदित है।

कारुइज़ावा में कवि के साथ सी०एफ० एण्ड्रूज भी थे। गुरुदेव स्वयं तो विदाई ले चुके थे वे रुक नहीं सकते थे परन्तु लड़कियों को रोती देखकर उन्होंने एण्ड्रूज को कुछ काल के लिए उनके पास छोड़ दिया। □

सूरदास : भक्ति को समर्पित कविता

प्रो० हरबंशलाल शर्मा

□ □

भारत के इतिहास में भक्ति-आन्दोलन एक महत्त्वपूर्ण घटना है। देश की सांस्कृतिक और भावात्मक एकता में इस आन्दोलन का अप्रतिम योगदान है। इसीके फलस्वरूप भारत की अनेक प्रतिभाओं ने भक्ति-भावना से प्रभावित होकर जिस साहित्य की सर्जना की, वह सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् का साहित्य है, सदा ही नवीन और चिरंतन है। इन साधकों में सूरदासजी अग्रणी कहे जा सकते हैं क्योंकि उनका काव्य विशुद्ध भाव-साधना का काव्य है। उनकी कविता सर्वथा भक्ति को समर्पित है।

भक्तकवि सूरदास का अध्ययन करते समय यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उनके पदों का आधार भाव ही है। भक्ति-भाव से प्रेरित होकर ही वे कविता के क्षेत्र में प्रवृत्त हुए। कवि की रचना में उसके व्यक्तित्व की छाप रहती है। सूर का भक्ति-भावित व्यक्तित्व उनकी शैली से साफ झलकता है। सूर के भाव-विधान में मनोवैज्ञानिकता को विशेष स्थान मिला है, इसलिए उनका वात्सल्य और विरह का चित्रण विश्व-साहित्य में अपना जोड़ नहीं रखता।

भगवान के शील, शक्ति और सौन्दर्य में से हमारे कवि ने उनके सौंदर्य-रस की मादकता में मस्त होकर 'अनजान' जो गीत गाये, उनमें न तो तुलसी के काव्य के समान शील-पालन-दृढ़ता की कठोरता है और न चारण कवियों के काव्य के समाज 'शक्ति' की उद्धतता और विकटता, केवल आंखों से चुपचाप बहती हुई भावधारा है, जो आराध्य के रूपदर्शन से उद्वेलित होकर मोतियों के रूप में झर-झर ध्वनि से उसीके चरणों पर ढुलक जाती है :

त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये।

सूरदास जी का काव्य प्रबन्ध-काव्य नहीं है, उनमें कथा के प्रवाह का निर्वाह नहीं मिलता, भावात्मक स्थलों का ही मनोरम वर्णन मिलता है, यों कथा का तारतम्य जारी रखने के उद्देश्य से उन्हें जोड़ने के लिए यत्र-तत्र एकाध पद में घटनाओं का वर्णन भी कर दिया गया है। घटना-वर्णन में कवि की प्रवृत्ति रमी ही नहीं है। सत्य तो यह है कि सूर का उद्देश्य घटना-वर्णन अथवा कथा कहना नहीं था, उनका उद्देश्य था अपने प्रभु के प्रेम में मत्त होकर उनके सौंदर्य का वर्णन करते हुए मानस-भाव-रसामृत को पदों के प्रवाह में बहा देना, जिससे सिक्त होकर जन-मनोभूमि में भगवद्भक्ति का अंकुर फूट निकले। वे 'स्वामिनः सुखाय' नहीं, 'स्वान्तः सुखाय' रचना करते थे। महाकवि तुलसी के अनुसार वाणी का उपयोग प्रभु-गुणगान करना ही है, प्राकृत-जन का गुणगान करने से तो सरस्वती भी सिर धुनकर पछताने लगती है।

महाकवि सूरदास की गेय पद शैली में हमें विविधता और विचित्रता दोनों के दर्शन होते

हैं। यों तो उनसे पहले सन्त कवियों ने भी अपनी भावात्मक अनुभूति को व्यक्त करने के लिए इसी गेय पद शैली का अनुसरण किया है और उनसे पहले गोरखबानी में भी इस शैली के दर्शन होते हैं, परन्तु सूर के हाथों में पड़कर इस शैली का रूप निखर आया है। एक ओर तो उन्होंने सन्त-परंपरा से प्राप्त शैली का अनुसरण किया, और दूसरी ओर उनके काव्य से हमें उस शैली के दर्शन होते हैं, जो रागात्मक तत्त्वों से ही ओत-प्रोत है। ऐसे स्थल 'सूरसागर' में वे हैं, जहां सूर अपने इष्टदेव श्रीकृष्ण की बाल-लीलाओं का वर्णन करते हैं या रतिनागर, रसिकेश्वर, गोपीवल्लभ कृष्ण की रति-क्रीड़ाओं का चित्रण करते हैं अथवा उनके विरह से संतप्त गोपियों के हृदय की भावनाओं का अभिव्यंजन करते हैं। इन तीनों ही स्थलों पर कवि भावोन्मुख हो उठता है और अपनी कल्पना की उड़ान में 'निरंकुशाः कवयः' वाली उक्ति को चरितार्थ करता हुआ प्रतीत होता है। ऐसे स्थलों पर पुनरावृत्ति काव्य का दूषण न होकर भूषण हो जाती है। एक छोटी-सी बात को लेकर भक्ति-भावना में तल्लीन कवि न जाने कितनी व्यापार-योजनाएं प्रस्तुत करता है ? कितने संचारियों की उद्भावना करता है और सूक्ष्म से सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक तथ्यों का उद्-घाटन करता है। यशोदोत्संग-पालित बालकृष्ण सूर के परम इष्ट हैं। इन प्रसंगों में आनन्दवर्धना-चार्य की व्यंजना, कुंतक की वक्रोक्ति और विश्वनाथ तथा पंडितराज जगन्नाथ की रसानुभूति मानो दांव-पेच से अपना-अपना सिक्का जमाने की धुन में हैं। व्यंजना के गहन से गहन अद्भुत व्यापार, वक्रोक्ति की विदग्ध जन-मनोरंजक शब्द-क्रीड़ा तथा रसों की सहृदय-संवेद्य अनुभूति मानो साक्षात् रूप धारण करके अभिव्यंजित होती है। यशोदा का हरि को पालने में झुलाना यों ही उड़ती नज़र से देखे जाने योग्य दृश्य नहीं है, इसमें मातृ-हृदय की विशालता की झांकी है, जिसके दर्शनमात्र से हृदय पवित्र हो जाता है। हरि और यशोदा की चेष्टाएं आज के मनोवैज्ञानिक के लिए नूतन भावों को प्रस्तुत करने वाली हैं।

सूर का काव्य भावों का उमड़ता हुआ सागर है, जिसमें रस की थाह नहीं पायी जा सकती। भक्ति और वात्सल्य के भावों को रस-कोटि तक पहुंचाने का श्रेय सूर को ही प्राप्त है, क्योंकि इन भावों का ऐसा तीव्र एवं व्यापक अभिव्यंजन, जो रस के सारे शास्त्रीय अंगों से पुष्ट है, सूर के अतिरिक्त किसी कवि से हो नहीं पाया। जिस प्रकार उमड़ती हुई सरिता अपने कूल-नियमित पथ में प्रवाहित होने में असमर्थ होकर नवीन-नवीन मार्ग खोज लेती है, इसी प्रकार अनुभूति और भावुकता के चरम विकास की स्थिति में कवि के कंठ से निकली हुई भावरस-धारा सीधी सरल भाषा के कूलों में न समाती हुई चमत्कारपूर्ण वक्र कथनों के विस्तृत क्षेत्र में फैल जाती है। असाधारण भावोद्रेक के कारण वर्णन में, वर्णन-शैली में वक्रता और चमत्कृति आ ही जाती है, यह स्वाभाविक है। उन पाण्डित्य प्रदर्शन-परायण कवियों की बात दूसरी है, जिन्हें भाव और अनुभूति के स्थान को चुन-चुनकर सजाये हुए शब्दों और अलंकारों से भरकर कविता-कामिनी को दृश्यरहित प्रस्तर प्रतिमा के रूप में प्रस्तुत करने का व्यसन है। रससिद्ध कवियों की अलंकृत शैली उनके भाव-रत्नों की जगमगाहट से परिपूर्ण होने के कारण ही चमत्कारपूर्ण होती है, ऊपरी मुलम्मेवाली वस्तु के समान बाह्य चमक-दमक का मिथ्या आडम्बर ही नहीं रखती। सूर की रचना में जैसी भाव-प्रवणता है, वैसी चमत्कृति भी। उनकी अलंकार-योजना में न तो केशवदास के समान काव्यशास्त्र-ज्ञान-प्रदर्शन की प्रवृत्ति है, और न जायसी के समान एक-एक पंक्ति में कई-कई अलंकार ठूंसकर संकर और संसृष्टि करने का आग्रह ही। जहां रीतिकालीन कवि अनेक अलंकारों से सजाने की धुन में अपनी कविता-नागरी को ग्राम्य रूप देकर 'विनायकः प्रकुर्वाणी रचयामास वानरम्' वाली उक्ति को चरितार्थ कर आलोचकों के उपहास्य बने, वहां सूर ने भाव और कलापक्ष का उचित संतुलन रखकर अपनी कला को कला ही बना दिया।

आचार्य शुक्ल का कथन है, "सूर में जितनी सहृदयता है, उतनी ही वाग्विदग्धता भी।"

सूर के काव्य में शब्दालंकारों की अपेक्षा अर्थालंकारों का प्रयोग ही अधिक और स्वाभाविक हुआ है, क्योंकि शब्दालंकार तो वर्ण-सौंदर्य को ही विशेष रूप से प्रस्फुटित करते हैं, रूप-सौन्दर्य के लिए उनका इतना महत्त्व नहीं; जब कि सूर का उद्देश्य रूप-सौन्दर्य-चित्रण और उसके द्वारा भाव-सौन्दर्य का पोषण करना था। यही कारण है कि शब्दालंकर विशेष रूप से 'साहित्य-लहरी' के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं मिलते। 'साहित्य-लहरी' की रचना संभवतः शब्दालंकारों के प्रदर्शन के लिए ही हुई। शब्दालंकारों में उन्होंने यमक, अनुप्रास, श्लेष, वीप्सा और वक्रोक्ति का ही विशेष प्रयोग किया है। श्लेष और यमक दृष्टिकूट पदों में प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। अनुप्रास का प्रयोग तो सूरकाव्य में अत्यंत ही स्वाभाविक है, क्योंकि अनुप्रास द्वारा जहां एक ओर ध्वन्यात्मक सौन्दर्य का विधान होता है, वहां दूसरी ओर उससे वातावरण की सृष्टि भी। वीप्सा अलंकार कवि के हृदय की भक्ति-भावना का ही परिचायक कहा जा सकता है, क्योंकि उसका प्रयोग उन्होंने राधा और कृष्ण के अंग-प्रत्यंग के सौन्दर्य-रस-पान से तृप्त न होकर बार-बार स्वरूप वर्णन में किया है। वक्रोक्ति का प्रयोग व्यंग्योक्तियों में है। व्यंग्य को शृंगार-रस का सर्वस्व कहा जा सकता है और शृंगार के संयोग और वियोग दोनों ही पक्षों में प्रेमी और प्रेमिकाओं द्वारा इसका आधार ग्रहण किया जाता है। सूर के काव्य में व्यंग्य को भी महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है। उसके वात्सल्य में भी हमें व्यंग्य के दर्शन होते हैं। विरहिणी गोपियों की उक्तियां तो उनके भावों के साथ व्यंग्य को भी लेकर निकलती हैं, इसलिए उनमें वक्रोक्ति के सुन्दर उदाहरण भरे पड़े हैं।

सूरदास जी ने अपने काव्य के लिए अपने इष्टदेव की विहार-भूमि व्रज की ही भाषा को अपनाया। उनकी रचना में हमें व्रज भाषा का जो परिनिष्ठित और साहित्यिक रूप मिलता है उसको देखकर यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि व्रजभाषा शताब्दियों से काव्य की भाषा रही होगी, सूर ने तो उसको सुसंस्कृत बनाकर साहित्यिक रूप देने में ही योग दिया होगा। खेद है कि आज हमें सूर के पूर्ववर्ती कवियों की वे रचनाएं नहीं मिलतीं, जिनसे सूर की रचना का तारतम्य जोड़ा जा सके। आज जो साहित्य हमें उपलब्ध है, वह या तो अपभ्रंश-मिश्रित डिंगल में है या सधुक्कड़ी भाषा में। कबीर आदि सन्त कवियों की बानी में व्रजभाषा का जो रूप मिलता है, वह तो भाषा का खिचड़ी रूप ही कहा जा सकता है। खुसरो की भाषा अवश्य सुसंस्कृत देशी भाषा का स्वरूप सामने रखती है लेकिन उसकी प्रामाणिकता असंदिग्ध नहीं कही जा सकती। लालचन्द हलवाई कृत भागवत भाषा में भी व्रजभाषा का साहित्यिक रूप नहीं है। जो कोमल कान्त पदावली, भाषानुकूल शब्द-चयन, सार्थक अलंकार-योजना, धारावाही प्रवाह, संगीतात्मकता और सजीवता सूर की भाषा में है, उसे देखकर यही कहना पड़ता है कि सूर ने ही सर्वप्रथम व्रजभाषा को साहित्यिक रूप दिया। संगीतात्मकता तो व्रजभाषा की थाती है। वैष्णव सम्प्रदाय के आचार्यों और भक्तों ने जब इस भाषा को अपनाया तो इसकी आशातीत प्रगति हुई और यह समस्त भारत की राष्ट्रभाषा नहीं, तो धर्म भाषा तो बन ही गयी। पश्चिमी हिन्दी वाले प्रांतों में अब भी गीतों की भाषा व्रज-मिश्रित ही है।

व्रजभाषा-व्याकरण की कसौटी पर सूर की भाषा खरी नहीं उतरती, क्योंकि उन्होंने व्रजभाषा के शब्दों को ही नहीं तोड़ा-मरोड़ा, प्रत्युत अन्य भाषाओं के शब्दों को भी अपने अनुकूल बनाने की चेष्टा की है, इसीलिए इनकी भाषा शुद्ध-परिमार्जित भाषा नहीं कही जा सकती। यद्यपि इस भाषा का पूर्ण रूप से परिष्कार रीतिकालीन कवियों ने किया, तथापि बोल-चाल की भाषा को साहित्यिक रूप देने का सूर का प्रयास नितांत सराहनीय है। संस्कृत के तत्सम

और तद्भव शब्दों से तो उनकी भाषा का ढांचा बनने में सहायता मिली ही है, इसमें अन्य देशी भाषाओं और अरबी-फ़ारसी आदि विदेशी भाषाओं के शब्दों का भी महत्त्वपूर्ण योग है। इस प्रकार चलती हुई ब्रजभाषा को व्यापक और प्रभावशाली बनाने का स्तुत्य कार्य सूर ने ही सबसे पहले किया। भावानुकूल भाषा का प्रयोग करना ही अच्छे कवि की पहली विशेषता होती है, जिसके दर्शन सूरदास में संभव होते हैं। उनकी भाषा पात्र और परिस्थिति के अनुकूल ही है।

भगवान की शील, शक्ति और सौन्दर्य-विभूतियों में से सूर ने केवल सौन्दर्य का ही चित्रण किया है। उन्होंने केवल बाल्य और यौवन से संबद्ध जीवन-झांकियां दिखाई हैं, तुलसी की भांति समस्त जीवन का, विविध आस्थाओं का और विभिन्न परिस्थितियों का चित्रण नहीं किया। यही कारण है कि सूर का वर्ण्यविषय सीमित है, क्योंकि इन्हीं दोनों अवस्थाओं से संबद्ध वात्सल्य और शृंगार रसों की अभिव्यक्ति, बाल्य और यौवन की अवस्थाओं के भावों और व्यापारों के चित्रण से ही उन्होंने सरोकार रखा है। उन्हें न समाज से कुछ मतलब था, न लोक-मर्यादा का ध्यान। जनता को उपदेश देने की सन्त कवियों वाली प्रवृत्ति भी नहीं थी। वे तो ऐकान्तिक साधक थे। उनकी मथुरा तीन लोक से न्यारी थी, जिसमें कृष्ण, गोपियां, उनकी क्रीड़ाएं, बाल-सुलभ चापल्य, नन्द और यशोदा का वात्सल्य, मुरली-रास, वृन्दावन, कालिन्दी-तट के निकुंज आदि ही सम्मिलित थे। प्रेम की साकरी गली में सूर और उनके ब्रज-वल्लभ श्याम के अतिरिक्त कोई अन्य समा ही कैसे सकता था ! उन्होंने सखा बनकर कृष्ण की लीलाओं को साक्षात् देखा। संसार से संबंध त्यागकर ही वे प्रभु के इतने विश्वासपात्र बन सकते थे। उनके आराध्य का जीवन भी उतना सामाजिक नहीं था, जितना तुलसी के राम का।

वल्लभ-सम्प्रदाय में वात्सल्यासक्ति और दाम्पत्यासक्ति को बड़ा महत्त्व दिया गया है। नन्द, यशोदा और राधा के साथ अपने हृदय का तादात्म्य स्थापित कर कृष्णभक्त कवि प्रेममत्त रहते थे और फिर भला उनके हृदय के भावों को वे कैसे न निकाल लाते ? सूर ने वात्सल्य और दाम्पत्य दोनों प्रकार की रति का बड़ा ही मर्मस्पर्शी अभिव्यंजन किया है, जिनमें संयोग और वियोग दोनों पक्षों के अनेक हृदयग्राही चित्र हैं।

सूरदास के शृंगार का वर्णन करते समय हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि वे पहले भक्त थे, और बाद में कुछ और। उन्होंने जो कुछ कहा है, माधुर्य भक्ति के आवेश में। उनकी रचनाएं शृंगार रस से संबद्ध उदाहरणों के उद्देश्य से नहीं लिखी गयीं। सूर को तो बस इतना ध्यान था कि वे अपने प्रभु के सौन्दर्य का गान कर रहे हैं। उन्होंने यह कभी न सोचा होगा कि आगे चलकर उनके साहित्य का क्या प्रभाव पड़ेगा अथवा उनकी रचनाओं में काव्यशास्त्र के लक्षणों के उदाहरण भी आये हैं ?

संयोग की भांति वियोग का वर्णन भी सूर ने वात्सल्य से ही प्रारंभ किया है। कृष्ण की लीलाओं से ब्रज भूमि का चप्पा-चप्पा मुखरित हो रहा था। चारों ओर सुख और संतोष का राज्य था। यशोदा, नन्द, गोप, गोपियां सब प्रसन्न थे, पर एक दिन रंग में भंग हुआ। अक्रूर जी कंस का निमंत्रण लेकर आये और कृष्ण-बलराम को ले जाने का प्रस्ताव रखा। यशोदा पुत्र-वियोग की आशंका से सिहर उठी, पुत्र की सुकुमारता और कंस की दुष्टता को देखकर उसका वियोग और भी तीव्र हो उठा :

> देखि अक्रूर नर-नारि बिलखे।
> धनुर्भंजन जज्ञ हेत बोले इन्हें, और डर नहीं सब कहि संतोषे।
> महरि व्याकुल दौरि पाइँ गहि लै परि, नंद-उपनंद सँग जाहु लैके।

कहति ब्रज-नारि नैननि नीर ढारि कैं, इन्हनि कौ काज मथुरा कहा है।
सूर नृप क्रूर अक्रूर क्रूरै भए, धनुष देखन कहौं कपटी महा है।

सूर का विरह-वर्णन हिन्दी साहित्य में बेजोड़ है। भ्रमर गीत में गोपियों के तर्क के सामने उद्धव भले ही कुछ उत्तर दे सके, पर उनके प्रेमविह्वल अटपटे वचनों से उन्हें भी हार माननी पड़ी। उनकी प्रेम-रसधारा में उद्धव के ज्ञान की गुरु-गठरी न जाने कहां बह गयी। इस प्रसंग में गोपियों की अंतर्दशा का जैसा वर्णन सूर ने किया है, अन्यत्र दुर्लभ है।

सूरदास योग की अपेक्षा भक्ति के महत्त्व का अधिक प्रतिपादन करते हैं, किन्तु वे योग को सर्वथा हीन दृष्टि से नहीं देखते। योग का मज़ाक़ उड़ाने से उनका तात्पर्य यही है कि भक्ति योग की अपेक्षा सहज साध्य है। योग की साधना कठिन है, अतः सुकुमार नारियों को योग-साधना की सलाह देना एक विषमतामात्र है। उनके भावुक हृदय के लिए तो प्रेम मार्ग का अनुकरण ही श्रेयस्कर है :

आये हैं वे ब्रज के हित ऊधो, जुबतिनि को लै जोग।
आसन, ध्यान, नैन मूँदे सखि, कैसे कढ़ै वियोग॥

सच्चे भक्त का लक्ष्य तो एक ही है—भगवत्प्राप्ति। भगवान जिस मार्ग से सहज ही मिल जाये, वही ग्राह्य है। अगर योग द्वारा फौरन ही हरि के मिलने की गारंटी हो तो गोपियां उसे ग्रहण करने के लिए तैयार हैं :

ऊधौ तो हम जोग करैं।
जौं हरि बेगि मिलैं, अब हमको वैसे वेष धरैं॥

उन्होंने ज्ञान और योग की अपेक्षा भक्ति को प्रधानता दी है, और भक्ति के क्षेत्र में भी निर्गुण के स्थान में सगुण की उपासना का प्रतिपादन किया है। किन्तु सूर के भ्रमर गीत का पक्ष सर्वथा गौण है। अपने दार्शनिक विचारों को ही व्यक्त करने के लिए उन्होंने भ्रमर गीत की रचना नहीं की उनका प्रमुख लक्ष्य है—प्रेम की पीर की अभिव्यक्ति करना, जिसके साथ-साथ तत्कालीन समाज में प्रचलित अन्य धार्मिक विचारधाराओं का भी उद्घाटन स्वतः हो गया है। हिन्दी के विद्यार्थी के लिए भ्रमर गीत का साहित्यिक महत्त्व ही अधिक आकर्षक है। विप्रलम्भ शृंगार का इतना उत्कृष्ट उदाहरण अन्यत्र दुर्लभ है।

योग के उपदेश द्वारा उद्धव गोपियों के हृदय से कृष्ण की स्मृति को भी निकालना चाहते हैं। प्रिय से संबंध-विच्छेद कराने की चेष्टा करने वाले व्यक्ति के प्रति झल्लाहट उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है, चाहे वह प्रिय का कितना ही प्रिय क्यों न हो। उद्धव के कृष्ण का त्याग और निर्गुण की उपासना वाले उपदेश को सुनकर गोपियां झुंझला उठीं। इस झुंझलाहट को व्यक्त करने के लिए सूरदास ने एक भ्रमर की कल्पना की, जो उड़ता हुआ गोपियों और उद्धव के निकट जा निकला। फिर तो गोपियों ने भ्रमर के बहाने उद्धव पर खूब व्यंग्यबाणों की वर्षा की। भला उन्हें निर्गुण से क्या लेना ! उनके कृष्ण सलामत चाहिए।

प्रेम के घनत्व में अन्तर्हित यह प्रसार, वियोग की रसात्मक अनुभूति में हृदय की उदारता के साथ साफ प्रकट हो जाता है, प्रिय के समस्त दोष दृष्टि से ओझल हो जाते हैं, उसके अवरोधों से मान के स्थान में दीनता-मिश्रित सहिष्णुता, निष्ठुरता से विरति के स्थान में अनिर्वचनीय रत्युकर्ष और शठता से अविश्वास के स्थान में विश्वास ही का उदय होता है, यह वस्तुतः आश्चर्य की बात है।

सूर के वियोग-वर्णन की पूर्णता देखते ही बनती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की सम्मति है, "वियोग की जितनी अंतर्दशाएं हो सकती हैं, जितने ढंगों से उन दशाओं का साहित्य में वर्णन हुआ है और सामान्यतः हो सकता है, वे सब उनके भीतर मौजूद हैं।"

'भ्रमर गीत' सूर की सर्वश्रेष्ठ रचना है, इसमें एक ओर विप्रलम्भ शृंगार की उद्दाम सरिता का अबाध प्रवाह ब्रजनारियों के नयनाम्बु से पूरित होकर उमड़ता हुआ पाठक की मनोभूमि को आप्लावित करता चलता है, और दूसरी ओर सगुण भक्ति का निर्झर ऊंची-नीची और समतल भावभूमि में योगमार्ग की कठोर प्रस्तरशिलाओं को तोड़ता और निर्गुण उपासना के घास-फूस को आत्मसात् करता हुआ प्रवाहित होता है। गोपियों के भक्तिभाव एवं विश्वास से पुष्ट सरस तर्कों की झंझा में उद्धव की निर्गुण साधना का शुष्क भुस कहीं का कहीं उड़ गया। यद्यपि भ्रमर गीत का दार्शनिक पहलू भी है। विरह-विधुरा गोपियां परमात्मा से वियुक्त आत्मा की प्रतीक कही जा सकती हैं, तथापि प्रेम का लौकिक पक्ष ही उसमें अधिक उभरा हुआ प्रतीत होता है। सूर की गोपियां मिलन ही नहीं, उसका उपभोगमय उपयोग भी चाहती हैं।

सूर ने प्रकृति के क्षेत्र में विचरण करने वाले गोपाल कृष्ण को ही अपने काव्य का नायक बनाया है, गीता के योगिराज कृष्ण अथवा महाभारत के राजनीति-विशारद कृष्ण को नहीं। वस्तुतः ब्रज की प्राकृतिक लीलाओं और राधा-कृष्ण की प्रेम-लीलाओं में इतना घनिष्ठ संबंध है कि प्रकृति-वर्णन के बिना राधा-कृष्ण के प्रेमव्यापारों का वर्णन किया ही नहीं जा सकता। इस लीलाक्षेत्र में कृष्ण की लीला के साथ-साथ प्रकृति की जो लीला चला करती है, उसे छोड़कर कोई भी कवि कृष्ण-काव्य की चर्चा नहीं कर सकता था। इसीलिए सूरदास को अपने नायक कृष्ण के जीवन के साथ यमुना, कदम्ब-कुंज, ऋतु-परिवर्तन, दावानल और न जाने प्रकृति के कितने अंग गूंथ देने पड़े। कृष्ण का विकास जैसे ब्रज की प्रकृति में होता है, उसी प्रकार सूर-साहित्य का विकास भी ब्रज-प्रकृति की छाया में ही होता है। ब्रज की प्रकृति ने उन्हें केवल उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं के लिए ही सामग्री नहीं दी है, वह उनके काव्य के केन्द्र में प्रतिष्ठित हुई है।

सूर के पात्र प्रकृतिमय हैं। उनके हृदय का अध्ययन सूर द्वारा उपस्थित प्रकृति-चित्रपटी के सहारे भली भांति किया जा सकता है। साहचर्य के कारण उनका प्रकृति के साथ ऐसा तादात्म्य हो गया है कि किसी भी घटना-व्यापार की प्रतिक्रिया पहले किसपर हुई और बाद में किसपर, यह बताना बड़ा ही कठिन है। कृष्ण के वियोग में गोपियों की भांति प्रकृति भी पूर्ण वियोग का अनुभव करती है और संयोग में पूर्ण संयोग का।

वस्तुतः सूर के प्रकृति-वर्णन का महत्त्व उद्दीपन रूप में ही सर्वाधिक है। ब्रजभूमि की मोदमयी गोद में खेलते हुए राधा और कृष्ण के हृदय में जो पारस्परिक स्नेह का अंकुर फूटा, उसे ब्रज की प्रकृति ने अपनी सरसता से पल्लवित और पुष्पित किया। फिर उससे जो आनन्दमय प्रेम-भक्ति-सौरभ उड़ा, वह सांसारिक विषयों के कटुरस से पहले हुए जनमन-मधुपों को प्रेरणा देकर सच्चे आनन्द-रस का आस्वादन करा सका। चतुर सखी की भांति प्रकृति राधा और कृष्ण के मिलन के लिए उनके प्रेमभाव को उद्दीप्त करने के लिए अनुकूल वातावरण उपस्थित करती है।

इस प्रकार सूर के काव्य में निश्चल भक्ति-भावना की ही सर्वत्र अभिव्यक्ति हुई है और वह सर्वथा भक्त की साधनात्मक अनुभूतियों से परिपूर्ण है। उनकी भक्ति-भावना भी मानवीय प्रेम की निष्कलुष अनुभूति-प्रवण भावना ही है। उनकी भक्ति-भावना ने ब्रजभाषा को पुरुषोत्तम-भाषा ही बना लिया है। हम कह सकते हैं कि उनकी भक्ति-भावना और अनुभूति भाषा में सिमटकर कविता बन गयी है। □

विदेशों में हिन्दी प्रचार

बनारसीदास चतुर्वेदी

□ □

प्रवासी भारतीयों की संख्या 50-60 लाख के बीच में होगी, जिनमें कितने ही तमिल, तेलुगु, पंजाबी, सिंधी, गुजराती आदि भाषाभाषी हैं। विदेशों में हिन्दी-प्रचार के लिए सर्वोत्तम क्षेत्र मोरिशस, फिज़ी, गियाना, ट्रिनिडाड इत्यादि देश हैं जो पहले ब्रिटिश उपनिवेश थे और अब स्वाधीन हो चुके हैं। उनके सिवाय पूर्वी अफ्रीका, दक्षिणी अफ्रीका तथा सूरीनाम में भी हिन्दी के लिए अच्छा क्षेत्र है। वैसे तो संसार के मुख्य-मुख्य देशों में कितने ही हिन्दी भाषाभाषी पाये जाते हैं, पर उनकी संख्या अधिक नहीं है, इसलिए हमें अपना ध्यान मुख्यतय: औपनिवेषिक भारतीयों पर ही देना चाहिए।

उपनिवेशों में जो भारतीय शर्तबंद मज़दूर बनकर गये थे। वे अपने साथ महाकवि तुलसीदास की रामायण भी लेते गये थे, और यह कहना सर्वथा युक्तिसंगत होगा कि तुलसीदास ने ही भारतीय संस्कृति और राष्ट्रभाषा हिन्दी की रक्षा की।

महात्मा गांधी तो प्रारंभ से ही हिन्दी के समर्थक रहे थे और नैटाल में उन्होंने अपने पत्र 'इंडियन ओपिनियन' में एक हिन्दी विभाग भी रखा था। पर जिन्होंने हिन्दी-प्रचार के लिए सबसे अधिक कार्य किया—बल्कि यह कहना चाहिए अपना सारा जीवन ही खपा दिया—वे थे स्वामी भवानीदयालजी संन्यासी। उनके द्वारा संपादित 'प्रवासी' के अंक अब भी पठनीय हैं। अपने स्वर्गवास के अंतिम दिनों तक उन्हें प्रवासी की ही चिन्ता रही थी।

फिज़ी में हिन्दी-प्रचार के लिए सबसे अधिक प्रयत्न किया पं० तोतारामजी सनाढ्य तथा उनके साथियों ने। वहां भी प्रवासी भारतीयों ने रामायण की शरण ली थी, और कबीरपंथियों द्वारा भी हिन्दी की रक्षा हुई थी।

विदेशों में सत्साहित्य के प्रसार के लिए कोई संगठित प्रयत्न अभी तक नहीं किया गया, यद्यपि इस दिशा में सस्ता साहित्य मंडल ने प्रशंसनीय कार्य किया है। जो अवांछनीय किताबें उपनिवेशों में पहुंच गयी थीं उनका बड़ा दुष्प्रभाव पड़ा और अब भी पड़ रहा है। पं० तोतारामजी ने 'सारंगारादा वृक्ष' नामक पुस्तक के प्रचार के बारे में बड़ा मनोरंजक वृतांत छपाया था। उस पुस्तक के कारण फिज़ी में कई क़त्ल भी हुए थे। फिजी के अवसरप्राप्त हाई कमिश्नर श्री भगवानसिंह जी ने मुझे लिखा था कि अब भी निम्न कोटि की हिन्दी पुस्तकों का फिज़ी में प्रचार है।

उपनिवेशों में जहां-जहां आर्यसमाज का प्रचार हुआ है साथ-साथ हिन्दी का प्रचार भी हुआ है। मैंने जब 1925 के प्रारंभ में कांग्रेस के प्रतिनिधि की हैसियत से कीनिया, युगांडा, टांगा-

निका और जंजीबार की यात्रा की थी तो वहां गुजराती के साथ हिन्दी के विद्यालय भी देखे थे। जिस प्रकार भारतवर्ष में हिन्दी संपर्क भाषा है उसी प्रकार उपनिवेशों में भी हिन्दी को वही स्थान प्राप्त होता जा रहा है। फिज़ी में तीन राष्ट्रभाषाएं हैं—फिज़ियन, अंग्रेज़ी तथा हिन्दी। दक्षिण अफ्रीका में श्री नरदेव विद्यालंकार इस समय भी हिन्दी-प्रचार कर रहे हैं। हिन्दी के अनेक पत्र-पत्रिकाएं उपनिवेशों में निकल रहे हैं यद्यपि उनका स्तर साधारण ही है।

मेरा संबंध प्रवासी भारतीयों से 15 जून, सन् 1914 से रहा है और प्रवासी भारतीयों की सेवा में मेरे जीवन के 22 वर्ष व्यतीत हुए थे। उन वर्षों में मेरे द्वारा जो थोड़ी-सी सेवा बन पड़ी थी उसका पूरा-पूरा ब्योरा राष्ट्रीय अभिलेखागार, जनपथ, नई दिल्ली में सुरक्षित है। 'मर्यादा', 'चांद', 'विशाल भारत' और 'नवचेतन' (गुजराती) के विशेषांक तथा 'प्रवासी' वहीं देखे जा सकते हैं।

विदेशों में हिन्दी-प्रचार के विषय में लिखते हुए अजमेर में स्वामी भवानी दयाल जी द्वारा स्थापित प्रवासी भवन का उल्लेख करना अनिवार्यतः आवश्यक है। इस विषय की सबसे अधिक सामग्री वहीं मिल सकती है। यह बड़े खेद की बात है कि स्वामी भवानीदयालजी के स्वर्गवास के बाद प्रवासी भवन की देखरेख ठीक तौर पर नहीं हो सकी।

राष्ट्र संघ में सर्वप्रथम हिन्दी की आवाज़ बुलंद करने का सौभाग्य हमारे विदेश मंत्री श्री अटल बिहारी बाजपेयी को ही प्राप्त हुआ है, यद्यपि उसकी भविष्यवाणी अमर शहीद गणेश शंकर विद्यार्थी ने गोरखपुर के हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अवसर पर सन् 1929 में ही की थी। उनके शब्द थे :

"हिन्दी भाषा और हिन्दी साहित्य का भविष्य बहुत बड़ा है। उसके गर्भ में निहित भवितव्यताएं इस देश और उसकी भाषा द्वारा संसार-भर के रंगमंच पर एक विशेष अभिनय कराने वाली हैं। मुझे तो ऐसा भासित होता है कि संसार की कोई भी भाषा मनुष्य-जाति को उतना ऊंचा उठाने, ममुष्य को यथार्थ में मनुष्य बनाने और संसार को सुसभ्य और सद्भावनाओं से युक्त बनाने में उतनी सफल नहीं हुई जितनी कि आगे चलकर हिन्दी भाषा होने वाली है। यह हिन्दी के अपने पूर्व संचित पुण्य का फल है।

" साहस के साथ और उस अगाध विश्वास के साथ, जो हमें हिन्दी भाषा और उसके साहित्य के परमोज्ज्वल भविष्य पर है, हमें इस प्रकार के प्रहारों का सामना करना चाहिए, और जितने बल और क्रियाशीलता के साथ हम ऐसा करेंगे, जितनी द्रुत गति के साथ हम अपनी भाषा की त्रुटियों को दूर करेंगे और उसे 32 करोड़ व्यक्तियों की राष्ट्रभाषा के समान बलशाली और गौरवयुक्त बनायेंगे, उतनी ही शीघ्र हमारे साहित्य-सूर्य की रश्मियां दूर-दूर तक समस्त देशों में जाकर भारतीय संस्कृति, ज्ञान और कला का संदेश पहुंचायेंगी। उतनी ही शीघ्र हमारी भाषा में दिये गये भाषण संसार की विविध राजधानियों में गुंजरित होने लगेंगे और उससे मनुष्य जातिमात्र की गतिमति पर प्रभाव पड़ता हुआ दिखायी देगा, और उतनी ही शीघ्र एक दिन और उदय होगा और वह होगा तब, जब इस देश के प्रतिनिधि उसी प्रकार जिस प्रकार आयरलैंड के प्रतिनिधियों ने इंगलैंड से अंतिम संधि करने और स्वाधीनता प्राप्त करते समय अपनी विस्तृत भाषा गैलिक में संधिपत्र पर हस्ताक्षर किये थे, भारतीय स्वाधीनता के किसी स्वाधीनता पत्र पर हिन्दी भाषा में और नागरी अक्षरों में अपने हस्ताक्षर करते हुए दिखायी देंगे।"

सरकार के सांस्कृतिक विभाग द्वारा भी कुछ लोग हिन्दी-प्रचारार्थ भेजे गये हैं, और विश्व हिन्दी सम्मेलन के दो अधिवेशन एक भारत में और एक मोरिशस में हो चुके हैं। मई सन् 1979 में फिजी भारतीय प्रवास की शताब्दी का समारोह होने वाला है, और संभवतः उस समय

अन्य उपनिवेशों से तथा भारत से कुछ हिन्दी लेखक और पत्रकार वहां पहुंच सकते हैं।

जैसा कि मैं कह चुका हूं आर्यसमाज के प्रचार के साथ हिन्दी का प्रचार भी उपनिवेशों में हुआ है। मथुरा में महर्षि दयानन्द शताब्दी के अवसर पर विदेशों में वैदिक धर्म के प्रचार का प्रस्ताव मेरे द्वारा ही सन् 1925 में रखा गया था।

भावी कार्यक्रम

1. यद्यपि हम हिन्दी के राष्ट्रभाषा या संपर्कभाषा बनाये जाने के कट्टर समर्थक हैं, तथापि हमारा यह विश्वास है कि हिन्दी तभी यह गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त कर सकती है जब वह अन्य देशी भाषाओं की सेवा करे। भारत की सभी मुख्य भाषाएं राष्ट्र-भाषाएं हैं और हिन्दी उनकी बड़ी बहन है। विदेशों में हमारे जो हिन्दी प्रचारक जायें उनके हृदय में अन्य देशीभाषाओं के प्रति सहिष्णुता और प्रेम होना चाहिए।
2. एक शोधप्रबंध विदेशों में हिन्दी-प्रचार पर तैयार किया जाना चाहिए जिसमें अब तक किये गये कार्यों का लेखा-जोखा हो।
3. यदि दिल्ली में प्रवासी भवन की स्थापना हो जाये तो वहां इसका संपूर्ण रिकार्ड चित्रों सहित सुरक्षित किया जा सकता है।
4. विदेशों के स्कूलों में जो पाठ्य पुस्तकें पढ़ायी जाती हैं, उनका निरीक्षण भाषा-शास्त्रियों द्वारा किया जाना चाहिए। स्व० पं० जवाहरलालजी ने स्वयं मुझसे कहा था—फिजी वगैरह में जो किताबें स्कूलों में पढ़ायी जायें उनकी पृष्ठभूमि वहीं की होनी चाहिए। स्व० अमीचंद विद्यालंकार तथा रैवरेण्ड मैकमिलन ने कई अच्छी पुस्तकें तैयार की थीं।
5. जो प्रवासी विद्यार्थी भारत में शिक्षा प्राप्त करने के लिए आते हैं उनसे संपर्क स्थापित किया जाये और उनमें हिन्दी के सात्विक साहित्य के प्रति रुचि उत्पन्न की जाये। उनके साथ अच्छे से अच्छा व्यवहार होना चाहिए और उनको अच्छे कुटुम्बों में निमंत्रित करना चाहिए ताकि वे पितृभूमि के अच्छे संस्मरण लेकर अपने देश को लौटें।
6. वर्धा की राष्ट्रभाषा प्रचार समिति की कुछ परीक्षाओं का प्रचार विदेशों में है। यह एक शुभ प्रयत्न है, जिसको प्रोत्साहन मिलना ही चाहिए। पहले हिन्दी साहित्य सम्मेलन की कुछ परीक्षाएं वहां होती थीं। विदेशों को हिन्दी ग्रंथ किस प्रकार सुविधा-पूर्वक भेजे जा सकें इसके उपाय खोजने चाहिए। सुरुचिपूर्ण फिल्में भी भेजी जायें।
7. जहां-जहां हमारे राजदूतालय हैं वहां तो अच्छे केन्द्रीय पुस्तकालय आसानी से कायम किये जा सकते हैं।
8. भारत के हिन्दी पत्र समय-समय पर प्रवासी अंक निकालते रहें। जैसा कि मैं ऊपर लिख चुका हूं मैंने कई प्रवासी अंक निकाले थे जिनमें 'मर्यादा' का प्रवासी अंक तो 55-56 वर्ष पहले निकाला था और 'जीवन साहित्य' के दो प्रवासी अंक सन् '74 में निकलवाये थे। साप्ताहिक हिन्दुस्तान तथा जीवन साहित्य अगली मई में फिज़ी शताब्दी अंक निकालेंगे, और विदेश विभाग का पत्र गंगनांचल भी ऐसा ही करेगा।
9. वंबई के धर्मयुग ने मोरिशस के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य किया है और विदेशों में उसके काफी ग्राहक भी हैं।
10. भारत सरकार की ओर से एक जांच कमीशन विदेशों को भेजा जाना चाहिए जो वहां

भारतीय शिक्षाओं के बारे में जांच-पड़ताल करे। हिन्दी के साथ हमें अन्य भाषाओं को भी ले चलना है।

11. हिन्दी भारत की संपर्क भाषा बनती जा रही है और उसमें वह क्षमता भी विद्यमान है, जिससे वह भारत के पड़ोसी देशों से भी संपर्क भाषा बन सके।
12. जिन्हें विदेशों की यात्रा करने के सौभाग्य प्राप्त हुए हैं उनकी एक मीटिंग दिल्ली में बुलाई जा सकती है। काकासाहब कालेलकर उसके अध्यक्ष हों और श्री भगवान सिंह जी, श्री यशपाल जैन, डा० विद्यानिवास मिश्र, श्री लल्लनप्रसाद व्यास, श्री जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी इत्यादि को उसमें निमंत्रित किया जाये।
13. ऐसे उपाय सोचे जायें जिससे स्वामी भवानी दयालजी के प्रवासी भवन की उचित व्यवस्था हो सके।
14. जिन लोगों ने विदेशों में हिन्दी-प्रचार का कार्य किया है, उनके अनुभव लिपिबद्ध करा लेने चाहिए।
15. विदेशों में जो प्रतिष्ठित भारतीय हैं उनके सचित्र विवरण हमारे यहां रहने ही चाहिए। दरअसल वे ही हमारी संस्कृति के गैरसरकारी राजदूत हैं। सुना है कि हिटलर ने आठ लाख प्रवासी जर्मनों के परिचयपत्र बनवा रखे थे।

जिस प्रकार विदेशों में अंग्रेज़ी पुस्तकों की ख़पत से विलायती प्रकाशकों को लाखों पौंड की आमदनी होती है, उसी प्रकार यदि संगठित प्रयत्न किया जाये तो विदेशों में हिन्दी की पुस्तकों की बिक्री के लिए अच्छा बाज़ार तैयार हो सकता है।

जिन प्रवासी भारतीयों ने विदेशों में अच्छे ग्रंथ तैयार किये हैं। उन्हें पुरस्कारों तथा उपाधियों द्वारा सम्मानित किया जाना चाहिए।

उपनिवेशों में जिन जनपदीय भाषाओं का प्रचार है उन्हें प्रोत्साहन ही मिलना चाहिए। □

संकट में स्वभाषा

मोहनसिंह सेंगर जी 1962 में प्रधानमंत्री नेहरू के निवास स्थान पर रिकार्डिंग कराने गये। नेहरूजी को चीनी आक्रमण की संध्या पर राष्ट्र के नाम संदेश प्रसारित करना था, पहले अंग्रेजी में फिर उसका हिन्दी अनुवाद। सेंगर जी को अच्छा न लगा कि भारत का प्रधानमंत्री अनुवाद पढ़े।

सरकारी नौकर होते हुए भी बोल बैठे, "पंडितजी, भारत का प्रधानमंत्री संकट की इस घड़ी में हिन्दी अनुवादक हो, जंचता नहीं। इस समय आप अगर सीधे हिन्दुस्तानी में बोलें तो यह शायद बेहतर और मौजूं होगा।"

नेहरू ने इस धोतीधारी 'हिन्दी वाले' दुस्साहसी अधिकारी की ओर घूरा, एक क्षण सोचा और फिर कहा, "तुम ठीक कहते हो। सीधे हिन्दी में बोलना मुनासिब है।"

कोश-निर्माण सम्बन्धी मेरे अनुभव

डा० कामिल बुल्के

□ □

एक पुरानी डच कविता का भावार्थ इस प्रकार है—"यदि कोई न्यायाधीश किसी अपराधी को अत्यधिक यंत्रणा देना चाहे तो वह उसे न तो कठोर बेगार में लगाये और न कालकोठरी की सज़ा दिलाये, बल्कि वह उसे शब्दकोश तैयार करने का आदेश दे। इस प्रकार वह अपराधी को सभी सज़ाओं का सम्मिलित मज़ा चखा देगा।"

इस छोटी-सी कविता का रचयिता कोशकार रहा होगा, क्योंकि प्रसव-पीड़ा की तरह भुक्तभोगी ही कोश-निर्माण की वेदना समझ सकता है। डा० जॉनसन ने अपने प्रसिद्ध अंग्रेज़ी कोश में कोशकार को 'कोल्हू का बैल' कहा है। इस मुहावरे के दो अर्थ हैं। पहला—'बहुत कठिन परिश्रम करने वाला'। दूसरा—'बुद्धू'। डा० जॉनसन का अभिप्राय पहले अर्थ से है, क्योंकि वह अपने को निश्चय ही 'बुद्धू' नहीं समझते थे।

कोश-निर्माण के विषय में मेरा भी प्रमुख अनुभव यह है कि यह अत्यंत कठिन परिश्रम का कार्य है। अपनी 'टेक्निकल इंग्लिश-हिन्दी ग्लोसरी' लिखते समय मुझे उस परिश्रम का पहला अनुभव हुआ था। यह ग्लोसरी सन् 1955 में छप गयी थी। उस समय मैंने यह दृढ़ संकल्प किया था कि मैं फिर कभी इस प्रकार के श्रमसाध्य कार्य में नहीं फंसूंगा। मैं कई साल तक इस संकल्प पर दृढ़ रहा, किंतु बाद में मैं धीरे-धीरे विशिष्ट शब्दों का अनुवाद नोट करने लगा। अंत में एक प्रकार की लाचारी से मजबूर होकर मैंने अपना यह दृढ़ संकल्प ताकपर रख दिया और एक संपूर्ण अंग्रेज़ी-हिन्दी कोश के निर्माण में लग गया। कोश के निर्माण में इतना अधिक समय लगाना पड़ता है कि दूसरे विषयों में दिलचस्पी लेने की फ़ुरसत ही नहीं रहती। फलस्वरूप कोशकार के बौद्धिक जीवन में अनिवार्य रूप से एकांगीपन आ जाता है। अपना कोश लिखते समय मुझे पांच-छह वर्षों तक न तो राम-कथा के विषय में, न तुलसीदास के विषय में और न अपने ही धर्म के विषय में एक भी पुस्तक का अनुशीलन करने का समय मिला। राम-कथा-संबंधी बहुत-सी पुस्तकें आ गयी थीं, किंतु उलट-पलटकर मुझे उन्हें अलमारी में बंद कर देना पड़ता था। यदि सबसे अधिक प्रिय विषयों की यह हालत है, तो आसानी से समझा जा सकता है कि नये विषयों में रुचि लेना कोश-कार के लिए कितना कठिन है। कोश लिखते समय मैं कहीं भाषण देने या किसी पत्रिका के लिए लेख लिखने के सभी अनुरोध अस्वीकार करता जाता था, मिलने वालों से भरसक जल्दी ही निपट लेता और पत्रों का उत्तर भी नहीं देता था। कहते हैं कि मरने के बाद भगवान के दरबार में प्रवेश करने से पहले मनुष्य को अपने अपराधों के लिए प्रायश्चित्त करना होगा। यदि यह सच है तो मुझे महीनों तक पत्र लिखने पड़ेंगे।

कोश का कार्य न केवल कोशकार का सारा समय मांगता है, बल्कि वह धीरे-धीरे उसके समस्त मस्तिष्क पर अधिकार कर लेता है। कितनी ही बार बातचीत में कोई हिन्दी शब्द सुनकर मैं सोचने लगता था कि वह मेरे कोश में किस अंग्रेज़ी शब्द का पर्याय माना जाये अथवा कोई अंग्रेज़ी शब्द सुनकर उसके सही हिन्दी रूपांतर की खोज में खो जाता। मिलने वालों को आश्चर्य हो जाया करता था और वे शायद यह समझकर खिसक जाते कि फादर किसी आध्यात्मिक चिंतन में विलीन हो गये हैं। वास्तव में कोश-निर्माण एक साधना ही है और जिस तरह गोस्वामी तुलसीदास सर्वत्र अपने इष्टदेव को देखा करते थे—सीय राममय सब जग जानी—इसी तरह कोशकार को भी सारा संसार शब्दमय और अर्थमय ही दिखाई देता है—शब्द अर्थमय सब जग जानी। इस विषय को छोड़कर वह और कुछ नहीं सोच पाता। जब मैं यह कोश लिख रहा था, उस समय मेरे पिता जी जीवित थे। मैं उन्हें हर महीने पत्र दिया करता था, जिसमें प्रायः कोश की प्रगति की चर्चा होती थी। उन्होंने एक बार यह लिखा था, "बेटा! जल्दी आओ। जीवन के कोश में मैं वर्णमाला के अंतिम वर्ण 'ज़ेड' तक आ गया हूं।" कोश के बारे में सुनते-सुनते उनपर भी कोश का भूत सवार हो गया था और उन्होंने अनायास ही उपमान के रूप में कोश का सहारा लिया था।

इस सिलसिले में मुझे प्रसिद्ध हिन्दी कोशकार श्री रामचन्द्र वर्मा की याद आ रही है। मैं वर्षों तक बनारस में उनसे मिलने जाता रहा। दुनिया में कितनी ही सनसनीदार घटनाएं क्यों न घट रही हों, किंतु हमारी बातचीत का विषय एक ही रहा—उनके 'प्रामाणिक हिन्दी कोश' अथवा 'मानक हिन्दी कोश' के निर्माण की प्रगति और तत्संबंधी समस्याएं। उन्होंने अपनी 'शब्दार्थ दर्शन' नामक पुस्तक के प्रारंभ में कबीर की उक्ति का सहारा लेकर अपने बारे में यह कहा—सबद की चोट लगी मोरे मन में, बेधि गया तन सारा। यही प्रत्येक सफल कोशकार का अनुभव है।

जब प्रोफेसर टर्नर अपना सुप्रसिद्ध नेपाली कोश लिख रहे थे, तब वह अपना अध्ययन-कक्ष अंदर से बंद कर लेते थे और बाहर की दुनिया के लिए वह बहरे बनकर अपने खाने-पीने और सोने का समय भी भूल जाया करते थे। उनकी श्रीमतीजी बारंबार आकर दरवाज़ा ज़ोर से खट-खटाने के बाद ही उन्हें बड़ी मुश्किल से खाना खिला पाती थीं। पर मेरा घर तो 'भूतों का डेरा' है, उसमें कोई श्रीमती रहती ही नहीं, फलस्वरूप मैं अक्सर समय पर भोजन नहीं कर पाता और आधी रात से अधिक समय तक किसी शब्द विशेष की अर्थच्छटाओं का विश्लेषण करता रह जाता था।

कोश-निर्माण कोशकार को एकांगी बना देता है और धीरे-धीरे उसके सारे दिमाग़ पर अधिकार कर लेता है। फिर भी कुछ महीनों तक इस काम में निरंतर पिसते रहने के बाद डा० जॉनसन द्वारा प्रभावित कोशकार की परिभाषा अर्थात् 'कोल्हू के बैल' का यह तीसरा अर्थ स्पष्ट हो जाता है—एक ही जगह बार-बार चक्कर लगाने वाला। मन में विद्रोह का भाव उत्पन्न हो जाता है और कोशकार अनुभव करता है कि कोश-निर्माण एक बेहद उबाऊ काम है। इतनी थकावट, इतनी ऊब, इतनी वितृष्णा उसे घेर लेती है कि कोश की सब फाइलें आग में झोंकने की इच्छा होती है। मन को बहुत समझाना पड़ता है। मैं अपने से कहा करता था—'इलाहाबाद में तुम्हारे सब आत्मीय जानते हैं कि तुम कोश लिख रहे हो। छोड़ दोगे तो इलाहाबाद में मुंह दिखाने योग्य नहीं रहोगे।' अंत में मैंने प्रकाशक से अनुरोध किया कि पांडुलिपि समाप्त होने से पहले ही छपाई शुरू कर दी जाये, ताकि काम पूरा कर देने के सिवा मेरे सामने और कोई रास्ता ही न रह जाये।

उस समय उद्योगपति, प्रशासक और शिक्षासंस्थाओं के प्राचार्य अक्सर घेराव का शिकार बन जाते थे। उनसे मेरी सहानुभूति अवश्य थी किंतु उनका घेराव तो कुछ घंटों तक सीमित था, जबकि बेचारे कोशकार को कई वर्षों तक हज़ारों शब्दों का घेराव सहना पड़ता है। उस घेराव से मुक्ति पाने का एक ही सात्त्विक उपाय है: कितनी ही थकावट क्यों न हो, एक-एक करके उन हज़ारों शब्दों के साथ पूरा न्याय करना। कितनी ही बार किसी शब्द को जल्दी विदा करने के बाद मन में एक विचित्र अशांति का अनुभव हुआ और रातोंरात पलंग से उठकर मुझे उस शब्द के विभिन्न अर्थों का नया वर्गीकरण करने के बाद उपयुक्त हिन्दी पर्याय सोच निकालने पड़े। अंग्रेज़ी के बहुत-से शब्द सरल मालूम पड़ते हैं, किंतु उनका अर्थ-विस्तार हिन्दी समानांतर शब्दों से नितांत भिन्न है। उदाहरणार्थ अंग्रेज़ी शब्द 'क्लोज़' के अट्ठारह हिन्दी पर्याय निकले और मुझे तभी संतोष हुआ जब मैंने कोष्ठकों का सहारा लेकर यह स्पष्ट कर दिया कि किस अर्थ में किस पर्याय का प्रयोग होना चाहिए—कपड़ों के संबंध में 'चुस्त', तर्क के प्रसंग में 'पुष्ट', दोस्ती के विषय में 'घनिष्ठ', मौसम के बारे में 'उमसदार' इत्यादि। मुझे याद है कि अंग्रेज़ी 'टेक' शब्द की व्याख्या में तीन दिन लगे थे। 'ट्रांसफ़र' के कई अर्थ होते हैं—हस्तांतरित करना, स्थानांतरित करना आदि। यदि कोश में उनका अंतर स्पष्ट नहीं किया जाता है, तो अनुवादक कभी-कभी भारी भद्दी भूल कर डालते हैं। किसी सरकारी परिपत्र में यह छप गया था कि "अध्यापिका श्रीमती (नाम) हस्तांतरित हो गयी हैं।" अंग्रेज़ी शब्द 'स्ट्रांग' के पंद्रह-बीस पर्याय लिख डालने में कोई कठिनाई नहीं होती, किंतु इसका निर्देश करने में कि कौन अर्थ किस प्रसंग में प्रयुक्त है, उसमें बहुत समय लगता है। **कड़ी** चाय, **दृढ़** निश्चय, **शक्तिशाली** व्यक्तित्व, **गहरा** प्रेम आदि के लिए एक ही अंग्रेज़ी शब्द 'स्ट्रांग' से काम चलता है। इस प्रकार के विभिन्न प्रयोगों के पृथक्करण में मुझे सबसे अधिक परेशानी हुई थी।

पाठक संभवतः इस नतीजे पर पहुंच गये होंगे कि कोश-निर्माण दुनिया का सबसे नीरस काम है। यह उनकी ग़लती होगी, क्योंकि प्रूफ़-संशोधन इससे कहीं अधिक उबाऊ और निराशाजनक है। इस काम के पीछे मेरी आंखें इतनी थक गयीं कि मुझे नेत्र-चिकित्सक की शरण में जाना पड़ा।

नये शब्दों का निर्माण करना कोशकार का काम नहीं। जो शब्द प्रचलित हैं, उन्हींको कोश में स्थान मिलना चाहिए। दो हज़ार वर्ष से अधिक पहले महाभाष्यकार पतंजलि ने इसके संबंध में लिखा है कि जिस प्रकार घड़े की ज़रूरत होने पर कोई व्यक्ति कुंभकार के घर जाकर कहता है—घड़ा बना दो। पर उसी प्रकार कोई व्यक्ति वैयाकरण के घर जाकर नहीं कहता कि तुम शब्द बना दो, मुझे उनका प्रयोग करना है—"कुंभकारकुलं गत्वा आह कुरु घटं न तद्वत् शब्दान् प्रयोगमाणो वैयाकरणकुलं गत्वा आह कुरु शब्दान्।'

ऐतिहासिक कारणों से यह सामान्य नियम हिन्दी पर लागू नहीं था। सुल्तानों तथा मुग़लों के शासनकाल में राजभाषा फ़ारसी थी और उस समय ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा का कोई महत्त्व नहीं था। अंग्रेज़ों के शासनकाल में राजभाषा अंग्रेज़ी और शिक्षा का माध्यम भी अंग्रेज़ी थी। इस प्रकार भारत की स्वतंत्रता तक हिन्दी का प्रयोग मुख्यतया ललित साहित्य की रचना के लिए होता रहा और इसका अनिवार्य परिणाम यह हुआ कि प्रशासन तथा ज्ञान-विज्ञान के लिए हिन्दी में पारिभाषिक शब्दों का अभाव था। इस कारण हिन्दी कोशकार को शब्दकार भी बनना पड़ता था। सरकारी समितियों द्वारा निर्मित शब्दों का सहारा अवश्य मिला, फिर भी मुझे अपने कमरे में बैठकर संस्कृत के आधार पर बहुत-से नये शब्दों का निर्माण करना पड़ा। मैंने इसका बहुत अधिक ध्यान रखा कि जो नये शब्द मैं बना रहा हूं, वे यथासंभव सरल और सुबोधगम्य

हों। उस समय एक अनुवादक ने मेरे पास आकर पूछा कि 'आउटस्टैंडिंग' के लिए 'ऊर्ध्वस्थित' ठीक रहेगा कि नहीं ? मुझे आशा है कि इस प्रकार के ऊटपटांग शब्द मेरे कोश में नहीं मिलेंगे। साथ ही साथ मुझे यह आशंका भी बनी रहती है कि कहीं-कहीं कृत्रिमता और अनावश्यक जटिलता न आ गयी हो। कहा जाता है—'विद्या ददाति विनयम्', कोश-निर्माण भी विद्या की तरह मनुष्य को विनम्र बना देता है। कोश-निर्माण के दौरान लेखक को इसका बहुत गहरा अनुभव हो जाता है कि वह कितना कम जानता है। कोश लिखते समय जब-जब इलाहाबाद आने का अवसर मिलता, तो मैं विचार-विमर्श के लिए शब्दों की लंबी सूची अपने साथ ले जाता था। मुझे याद है कि 'फ़ोटोजेनिक' के अनुवाद के लिए मुझे बहुत समय तक सफलता नहीं मिली। किसी दिन इसके संबंध में सौजन्य-अवतार कविवर सुमित्रानंदन पंत की शरण में गया। प्रश्न सुनने के बाद वह थोड़े समय तक किंकर्तव्यविमूढ़-से बैठे रहे। इसके बाद उनकी आंखें चमकने लगीं और वह बोल उठे—चित्रोपम ! इस प्रकार रांची निवासी डा० दिनेश्वर प्रसाद के अतिरिक्त बहुत-से हिन्दी लेखक और विद्वान मेरे कोश के निर्माण में उदारतापूर्वक योगदान करते रहे हैं। मैं हृदय से सबका आभार स्वीकार करता हूं।

कोशकार की परेशानी का एक और पहलू है। जब मेरा कोश छपकर प्रकाशित हुआ और मैं समझ रहा था कि अब आराम की नींद सो सकूंगा—यह मेरी भारी भूल थी, क्योंकि एकाध महीने के बाद ही मुझे कोश के द्वितीय संस्करण की तैयारी करनी पड़ी और दो-तीन साल तक परिश्रम करने के बाद ही उससे मुक्ति मिली। आज तक उसी द्वितीय संस्करण का बारंबार पुनर्मुद्रण होता रहा। अब कोश के तीसरे संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि कोशकार एक विचित्र असाध्य रोग का शिकार है—सबद की चोट लगी मोरे मन में, बेधि गया तन सारा। किंतु इस वर्ष मैं अपना सत्तरवां वर्ष प्रारंभ करूंगा और मेरे शरीर के दरवाज़े को बुढ़ापा ज़ोरों से खटखटा रहा है। दयालु पाठक परमात्मा से अनुरोध करें कि वह मुझे तीसरा संस्करण प्रकाशित कराने का अनुग्रह प्रदान करे।

कोशकार की एक और वेदना है। यदि वह समझदार है, तो वह भली भांति जानता है कि उसका कार्य पूर्ण रूप से संतोषजनक नहीं कहा जा सकता। यह उसके लिए एक कटु सत्य है। कोश घड़ी की तरह है—घड़ी कितनी ही अच्छी क्यों न हो, किंतु वह समय बताने में थोड़ी-सी गलती जरूर करती है। अपने कोश की प्रशंसात्मक समीक्षा पढ़कर मेरा सिर लज्जा से झुक जाता है। मुझे विश्वास है कि मैं अत्यंत समर्थ हिन्दी भाषा के साथ पूरा न्याय नहीं कर पाया और उसके शब्द-भंडार की समृद्धि प्रदर्शित करने में असफल रहा हूं। सफ़ाई में इतना ही कहना चाहूंगा कि मैं तृतीय संस्करण को अधिक सरल और कम त्रुटिपूर्ण बनाने का पूरा-पूरा प्रयत्न करूंगा। □

विश्व हिन्दी साहित्य : इतिहास-लेखन आवश्यक

प्रो० कामता कमलेश

□□

वर्तमान समय में हिन्दी को वैश्विक मंच पर स्थापित करने का प्रयास जिस भावात्मक रूप में हो रहा है उससे ऐसा प्रतीत होता है कि अब हिन्दी का भविष्य उज्ज्वल एवं जीवन-पथ प्रशस्त है। विगत दो विश्व हिन्दी सम्मेलनों (भारत एवं मोरिशस) के उपरान्त ही राष्ट्रसंघ में भी चिरप्रतीक्षित हिन्दी की अटल सिंह-गर्जना भी हो चुकी है। इसके अतिरिक्त इस समय संसार के शताधिक विश्वविद्यालयों में हिन्दी का पठन-पाठन इसका द्योतक है कि हिन्दी मात्र साहित्य की चीज़ नहीं वरन् वह हृदयों को जोड़ने वाली ऊर्जा भी है और प्रेम की गंगा भी। साथ ही जिसकी इतनी लोकप्रियता है कि संसार के कई देशों, जैसे मोरिशस, फिजी, गयाना, सूरीनाम, ट्रिनिडाड, दक्षिण अफ्रीका, नेपाल, ब्रह्मदेश आदि में अधिसंख्य हिन्दी-भाषी निवास करते हैं तथा कहीं-कहीं आधे से अधिक लोग हिन्दी बोलते और समझते हैं। फिज़ी में तो हिन्दी वहां की संसद में एक प्रमुख स्थान ले चुकी है और कभी-कभी हिन्दी जानने वाला प्रत्याशी चुनाव में बाज़ी मार ले जाता है। इस प्रकार भारतेतर जगत् के लोग धर्म, रहन-सहन, राजनीति, वेश-भूषा और जाति आदि में अनेक विभिन्नताओं के होते हुए भी वे हिन्दी की सजीव कड़ी से जुड़े हैं। तभी तो ये लोग हिन्दी का पठन-पाठन और लेखन करना अपना गौरव मानते हैं।

इस परिप्रेक्ष्य में अब हमारा पुनीत कर्त्तव्य हो जाता है कि हिन्दी साहित्य के इतिहास को विश्व-संदर्भ में आंका जाये। पर इसके इतिहास पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि अपने देश के तथाकथित धुरंधर आचार्य इसके इतिहास-लेखन के समय अपनी संकीर्णता एवं कूपमंडूकता की प्रवृत्ति का ही प्रकाशन करने में संलग्न हैं। वे अब तक हिन्दी को मात्र 'मध्य देश' की भाषा मानकर अपने ही देश में उसका सीमांकन करने से नहीं चूक रहे हैं पर कितनी विडम्बना है कि ये ही 'हिन्दी के आचार्य' दूसरी तरफ़ हिन्दी को राष्ट्र संघ की भाषा और अन्य देशों में पठन-पाठन का कृत्रिम मुखौटा लगाकर अपनी हिन्दी-भक्ति का नारा भी बुलन्द करते हैं। समग्र रूप से निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि हिन्दी अपने कठमुल्ले मठाधीशों द्वारा ही संकीर्ण की जा रही है जब कि उसके भक्त पूर्ण संसार में विद्यमान हैं और कुछ तो यहां के मठाधीशों से भी उच्च एवं निःस्वार्थ, पवित्र हिन्दी-वैतालिक हैं। फिर भी इनकी सेवा श्लाघ्य नहीं! आज का हिन्दी साहित्य का इतिहास कितना दकियानूसी एवं संकुचित है कि उसके वैश्विक विस्तार की बात गूलर का फूल बन गयी है। वह तो लकीर का फ़क़ीर बना हुआ अपना 'शुक्लीय शकट' ले तेली के बैल की भांति आंख में पट्टी बांधे अभी तक अपने ही स्थान पर चक्कर लगा रहा है।

इस समय विदेशों में हिन्दी का लेखन एवं प्रचार-प्रसार प्रायः दो रूपों में हो रहा है। प्रथम के अन्तर्गत वे देश आते हैं जहां के लोग हिन्दी को एक 'विश्व-भाषा' के रूप में स्वान्तः सुखाय सीखते, पढ़ते-पढ़ाते और लिखते हैं। इसमें रूस, अमेरिका, इटली, जापान, इंग्लैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, फ्रांस, जर्मनी, स्वीडन, नार्वे, पोलैंड आदि देश सम्मलित हैं। दूसरे के अन्तर्गत वे देश आते हैं जहां भारत से जाने वाले प्रवासी भारतीय और भारतवंशी लोग निवास करते हैं जिनकी मातृ-भाषा हिन्दी रही जो कि आजकल मोरिशस, फ़िजी, गयाना, सूरीनाम, ट्रिनिडाड, नेपाल, ब्रह्मदेश थाईलैंड, मलयेशिया, दक्षिण अफ्रीका और श्रीलंका आदि देशों में रह रहे हैं। इन्हें हिन्दी अपनी पैतृक संपत्ति के रूप में मिली है। इन दोनों प्रकार के देशों में हिन्दी का रचना-संसार बहुत ही समृद्ध है। हिन्दी की प्रत्येक विधा, यथा उपन्यास, कहानी, कविता, निबन्ध, आलोचना, नाटक, एकांकी, संस्मरण, रिपोर्ताज़, भेंट-वार्ता, अनुवाद, व्याकरण, रेखा-चित्र और पत्रकारिता आदि पर उत्कृष्ट ग्रंथों का प्रणयन विगत दो-तीन दर्शकों से द्रुति-गति से प्रवहमान है।

भाषा और साहित्य की कोई भौगोलिक सीमा नहीं होती। भाषा का सवाल संस्कृति से से जुड़ा रहता है और संस्कृति मानव-समाज से जुड़ी रहती है। किसी भी साहित्य का इतिहास उसमें लिखे जाने वाले प्रत्येक मौलिक कार्य का लेखा-जोखा होता है। उसमें वर्ग-भेद, जाति-भेद, देश-भेद, वर्ण-भेद, रंग-भेद आदि की बाधाएं नहीं होतीं। इसीलिए स्यात् हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास लिखने वाले गार्सा-द-तासी थे जिन्होंने 'हिन्दुई साहित्य का इतिहास' सर्वप्रथम फ्रेंच भाषा में सन् 1839 में लिखा। सबसे बड़ा आश्चर्य तो यह है कि फ्रांस निवासी गार्सा-द-तासी कभी भी भारत नहीं आये फिर भी उन्होंने हिन्दी की महत्ता का आकलन सात समुद्र पार बैठे कर लिया था। तासी ने ही सर्वप्रथम 'बागो बहार', 'प्रेम सागर' तथा 'महाभारत' आदि का अनुवाद फ्रेंच भाषा में किया। इसी प्रकार मि० की महोदय का अंग्रेज़ी में लिखा 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' भी अपने समय का महत्त्वपूर्ण ग्रंथ था। इन सबसे स्वतः ही प्रमाण मिल जाता है कि विदेशी विद्वानों ने 19वीं शती में ही हिन्दी की मर्यादा और महत्ता को समझ लिया था। यह उनकी स्वयं की दूरदर्शिता थी या हिन्दी का प्रभाव ?

आज वैश्विक-मंच पर हिन्दी साहित्य की रचना अपनी सीमाओं को देखते हुए स्तरीय ढंग से हो रही है तो फिर कारण क्या है कि आज हमारे हिन्दी साहित्य के इतिहास में इसका उल्लेख भी नहीं होता जब कि देखा यह जाता है कि कबीर, जायसी, सूर, तुलसी के काव्य-ग्रंथों पर आलोचना और टीका लिखने वाले भारतीय लेखकों के नाम का उल्लेख सगर्व किया जाता है किन्तु पेरिस की श्रीमती वादविल, जिन्होंने सूर, तुलसी, कबीर पर आलोचनात्मक व्याख्याएं लिखी हैं तथा शोध भी किया है और मध्यकालीन कवियों पर अधिकृत विदुषी भी हैं फिर भी उनका नामोल्लेख किसी भी हिन्दी साहित्य के इतिहास अथवा मध्यकालीन कवियों की आलोचना करते समय नहीं लिया जाता। यह हिन्दी वालों का उनके प्रति उपेक्षा भाव है अथवा पक्षपात-पूर्ण दुर्भावना ?

इसी प्रकार मानस पर रूसी विद्वान् श्री पी० ए० बारान्निकोव, दुशांबे सूरीत्वेस्तकोव, एन० साजोनोव आदि जो अवधी, ब्रजभाषाओं के विद्वान् हैं तथा सूर और तुलसी पर आलोचनात्मक कृति देकर अपनी योग्यता और हिन्दी-प्रेम का परिचय ही नहीं दिया अपितु वृन्दावन की कुंजगलियों में राधा और गोप बन कृष्ण की खोज में खूब भटके भी हैं। फिर इनको आलोचनात्मक इतिहास में क्यों नहीं रखा जाता ? 'विनय पत्रिका' और 'कवितावली' पर कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के श्री एफ० ओ० आलचिन का काम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। जहां हम

तुलसी-साहित्य के मर्मज्ञ के रूप में फादर कामिल बुल्के को अपनाते हैं वहां इन लोगों के साथ सौतेला व्यवहार क्यों ? यह सही है कि बुल्के साहब अब भारत के निवासी हैं तो क्या साहित्य-सेवा और हिन्दी को भौगोलिक चहारदीवारी में बन्द किया जा सकता है ? विदेशी हिन्दी विद्वान् किस आशा से हिन्दी को अपने देश में लोकप्रिय बनाने के लिए प्रयत्नशील हों जबकि उनके कार्य को हिन्दी की श्रेणी में नहीं रखा जाता।

व्याकरण के क्षेत्र में जहां श्री कामता प्रसाद गुरु, रामचन्द्र वर्मा, पं० किशोरीदास वाजपेयी आदि का नाम हिन्दी साहित्य के इतिहास में ससम्मान लिया जाता है, वहीं पर रूसी विद्वान् श्री बारान्निकोव, श्रीमती आऊलवा, गेरासिम लेविदेव, से० पी० चेलिशेव, पी० बेर्नीशेव, ओ० जी० उल्तीफरोव, यूरोप के श्री ओतारकोरपेर्तोलद, डा० विन्त्सेत्स पोराज्का, प० जर्मनी के डा० एच० जे० बेरमोर, हालैंड के श्री डेविड मिल ने हिन्दी व्याकरण पर अच्छी पुस्तकें लिखी हैं। चेलिशेव ने 'सरल वाक्य विन्यास', उल्तीफरोव ने 'हिन्दी में समास', केटेलियर ने 'हिन्दी व्याकरण', गेरासिम लेविदेव ने 'हिन्दी व्याकरण' आदि ग्रंथ लिखकर विदेशों में हिन्दी को प्रसारित किया है और कर रहे हैं पर उनका मूल्यांकन ? बट्टे खाते में या घपले में ?

अमेरिका के श्री सैम्युल केलाग ने 1875 में हिन्दी भाषा का व्याकरण 'ए ग्रामर ऑफ़ हिन्दी लैंग्वेजेज' की रचना की थी जिसमें खड़ी बोली के अतिरिक्त अवधी, ब्रज, मागधी, भोजपुरी, मैथिली, राजस्थानी, कुमायुंनी पर भी पर्याप्त सामग्री है। नीदरलैंड के श्री डकलाक ने भी एक हिन्दी व्याकरण लिखा था जिसकी मूल प्रति हेग विश्वविद्यालय में है तथा जिसका प्रथम प्रकाशन लखनऊ से हुआ था। इसके अतिरिक्त अन्यान्य विदेशी विद्वान् व्याकरण और भाषाशास्त्र पर काम कर रहे हैं पर जब हमारा रवैया यही रहा तो हिन्दी का भविष्य और सम्मान वहां क्या होगा ? यह 'हिन्दी-सेवकों' का बंटवारा गुरु रामानन्द और गुरु द्रोण का कब तक चलेगा ? आख़िर एक दिन किसी कबीर-सेवक को गंगा-घाट पर अंधेरे में लेटना होगा और किसी एकलव्य-भक्त को मिट्टी की मूर्त्ति बनानी होगी।

भारतेतर देशों में इस समय आलोचना साहित्य में भी पर्याप्त रचनाएं हो रही हैं जो कि शैली, भाव, भाषा, विषय, प्रमाण तथा तथ्य की दृष्टि से उच्चकोटि की हैं। रूस के डा० ई० चेलिशेव ने 'सुमित्रानंदन पंत तथा आधुनिक हिन्दी कविता में परम्परा और नवीनता' (प्र० 1970) नामक कृति देकर अपनी हिन्दी के प्रति नयी सूझ का परिचय दिया है जो कि निश्चय ही अब तक के पंत-साहित्य की आलोचना में सर्वोपरि है। रूस के ही एक विद्वान् ने 'सूरदास की सृजनात्मक कृति' और चेतराना ने 'दिनकर-साहित्य' लिखकर अपनी प्रखर आलोचना-शैली का प्रमाण दिया है। जापान में जायसी के 'पद्मावत' पर एक अच्छी पुस्तक लिखी जा चुकी है। पोलैंड के श्री आग्नेवश्का कोवालास्का सोनो ने 'आधुनिक हिन्दी कविता' पर शोध-कार्य करके हिन्दी की नवीनतम धारा का संस्पर्श किया है जबकि आज का भारतीय हिन्दी छात्र 'नयी कविता' से कतराता है।

हिन्दी भाषाविज्ञान के क्षेत्र में भी विदेशियों ने प्रचुर कार्य किया है। श्री काल्डवेल ने सर्वप्रथम हिन्दी में 'तुलनात्मक भाषाविज्ञान' पर कार्य किया। मि० बीम्स ने तीन खंडों में 'भारतीय आर्य भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण' नामक ग्रंथ लिखा। सन् 1876 में श्री केलाग ने 'हिन्दी भाषा का व्याकरण' प्रकाशित करवाया। जार्ज ग्रियर्सन ने तो लगातार 33 वर्षों तक भगीरथ प्रयत्न करके 'भारत का भाषा-सर्वेक्षण' नामक ग्रंथ 17 खंडों में लिखा जिसपर आज का समस्त हिन्दी का भाषाविज्ञान आधारित है। सन् 1880 में हार्नली महोदय ने 'पूर्वी हिन्दी का तुलनात्मक व्याकरण' लिखकर 'कबीर-बीजक' की दुरूहता को सरल बना दिया। श्री टर्नर ने

1872 में 'नेपाली कोश' की रचना की जो कि भारतीय आर्यभाषा का पहला वैज्ञानिक कोश है। इसी प्रकार पेरिस के श्री ज्यूल ब्लाक ने मराठी पर कार्य करते हुए 'भारतीय आर्यभाषा' नामक ग्रंथ फ्रेंच में लिखा। सन् 1872 में मि० ट्रम्प ने 'सिन्धी भाषा व्याकरण' संस्कृत, प्राकृत तथा अन्य भारतीय भाषाओं के परिप्रेक्ष्य में लिखा। अतः इन भाषा वैज्ञानिकों के कार्य को देखते हुए यह स्वतः ही प्रमाणित हो जाता है कि हमारी हिन्दी मात्र 'मध्यदेश' की भाषा नहीं और न ही वह उत्तरभारत की भाषा है। फिर भी आज के इतिहासकार इन सबको उपेक्षित करके अपनी आर्यभाषा को स्थापित करना चाहते हैं।

अनुवाद के क्षेत्र में तो भारतेतर देशों ने बड़ी प्रगति की है। रूसी विद्वान् श्री बारान्निकोव ने 'रामचरित मानस', 'प्रेम सागर' तथा जर्मन विद्वान् डॉ० शार्लोत क्राउजे ने 'प्रेम सागर' का अनुवाद किया है। 'बिहारी सतसई' के कुछ दोहों का तथा श्री जैनेन्द्रकुमार के उपन्यास 'त्यागपत्र' का भी अनुवाद हुआ। इसके अतिरिक्त अनेक देशों में प्रेमचन्द, अमृतराय, बच्चन, अज्ञेय, निराला, दिनकर, पंत, प्रसाद, महादेवी, रामकुमार वर्मा, यशपाल, मैथिलीशरण गुप्त आदि की रचनाओं के अनुवाद या तो हो चुके हैं या हो रहे हैं। हंगरी की श्रीमती ईवा अरोदी ने भी आधुनिक हिन्दी कहानीकारों—जैसे अज्ञेय, धर्मवीर भारती, कमलेश्वर, मोहन राकेश—की कहानियों का हंगेरियन भाषा में अनुवाद किया है। श्रीमती अरोदी 'आधुनिक हिन्दी कहानी' पर शोधकार्य कर रही हैं। यूनेस्को द्वारा भारतीय प्रकाशनों की कुल 65 पुस्तकों का—जिसमें अंग्रेज़ी में 42, फ्रेंच में 18 और जर्मन में 5—अनुवाद हुआ है। संयुक्त राष्ट्र संघ के विविध संगठनों में यूनेस्को ही पहला संगठन था जिसने विश्व-संचार-व्यवस्था में हिन्दी के महत्त्व को मान्यता दी थी। जापान में 'गोदान' का अनुवाद हुआ है। प्रो० क्यूया दोई ने एक 'हिन्दी-जापानी कोश' तथा एक 'जापानी-हिन्दी कोश' तैयार किया है।

भारतेतर देश आज अपने सीमित साधनों एवं अपेक्षित वातावरण के अभाव में भी जिस लगन और उत्साह के साथ कार्य कर रहे हैं, वह हमारे लिए अनुकरणीय एवं वन्दनीय है। यही तो हमारे साहित्य की प्रसिद्धि और सार्वभौमिकता है जो कि हमें विश्व के अन्य देशों से भावात्मक रूप में जोड़ती है। अतः यहां हमारे साहित्यिक इतिहासकारों का यह पुनीत कर्त्तव्य हो जाता है कि वे इन सबका उल्लेख अपने ग्रंथ में करें जिससे उनका मनोबल बढ़े और हिन्दी की विश्वजनीनता का स्वप्न पूर्ण हो।

अब इसके अतिरिक्त वे देश शेष रह जाते हैं जहां आज प्रवासी भारतीय और भारतवंशी लोग बहुतायत से रहते हैं। वे लोग हिन्दी की सेवा में अपना गौरव समझते हुए पूर्वजों के ऋण से छुटकारा पाना चाहते हैं। मोरिशस, फिज़ी, ट्रिनिडाड, गयाना, सूरीनाम, द० अफ्रीका, ब्रह्मदेश, नेपाल, थाईलैंड आदि कुछ ऐसे छोटे-बड़े देश हैं जहां के लोग हिन्दी को अपने पूर्वजों की देन के कारण तथा वंशगत परम्परा का निर्वाह करते हुए एक 'हिन्दी-संसार' और 'लघु भारत' को अपने क्रोड़ में सुरक्षित रखे हुए हैं। मोरिशस में द्वितीय विश्व हिन्दी सम्मेलन के आयोजन से यह बात स्वतः ही सिद्ध हो जाती है। मोरिशस का रचना-संसार तो बहुत ही उच्च कोटि का है। वहां के प्रथम हिन्दी लेखक पं० आत्माराम ने 'मोरिशस का इतिहास', 'मोरिशस में ईश्वर', 'हिन्दू मोरिशस', 'छत्रपति शिवाजी' और 'लक्ष्मीबाई' (जीवनी) नामक पुस्तकें लिखीं। पंडित लक्ष्मीनारायण रसपुंज ने 'रसपुंज कुंडलियां' (1923), 'शताब्दी-सरोज' (1935), नामक काव्य-कृतियां दीं। ये वहां के प्रथम कवि माने जाते हैं। पं० हरिप्रसाद रिसाल मिश्र ने 'छन्द वाटिका' और 'भजन माला' (1958) लिखीं। श्री बृजेन्द्रकुमार भगत मधुकर के 25 गीत-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं, जैसे—गुंजन, मधुबन, रसवंती, मधुमास आदि। श्री मुनीश्वरलाल

चिन्तामणि के 'शांतिनिकेतन की ओर' (1961), 'नवनिर्माण की वेला' (1962) प्रकाशित हुए। श्री विष्णुदत्त मधु ने 'रवि-रश्मि', 'मोरिशस-भारती' काव्य-कृतियां लिखीं। श्री सोमदत्त बखोरी की 'मुझे कुछ कहना है' (1967), 'बीच में बहती धारा' (1971) आधुनिक हिन्दी कविता की सशक्त कड़ियां हैं। सन् 1970 में प्रकाशित 'गंगा की पुकार' उनके यात्रा-संस्मरण की पुनीत कड़ी है। श्री बखोरी ने 'हिन्दी साहित्य की एक झांकी' शीर्षक से भारतीय साहित्य का लघु इतिहास भी लिखा है। मोरिशस में गद्य-पद्य और नाटकादि लिखने में इनका प्रमुख स्थान है। श्री जगरूप दोसिया की 'सुधा-कलश', हिन्दी प्रचारिणी सभा से पुरस्कृत हो चुकी है। श्री हरिनारायण सीता ने 'प्रभात', ठाकुरप्रसाद मिश्र ने 'दीपावली' (खंडकाव्य), गिरिजानन रंगू ने 'मोरिशस में बाढ़', पं० रामरतन रिसाल मिश्र ने 'बिखरे सुमन', मोती तोरल ने 'शादी से आबादी नहीं बरबादी', कृष्णलाल बिहारी 'बेखबर' ने 'कलियुगी भगवान', 'आंखें', मणिलाल नौबत ने 'गांधी-स्मृति', 'सुरभित-उद्यान', शिवलाल मोती ने 'नवनिर्माण', ज्ञानचन्द्र दत्त धनुकचन्द्र ने 'काव्य-कली', रुद्रदत्त पोखन ने 16 काव्य-पुस्तकें, मोहनलाल हरदयाल ने 'तरंगिनी', पं० रामदत्त शर्मा ने 'विटपों के गुण', 'पूजा के बारह फूल', इन्द्रदेव भोला ने 'वरदान', जनार्दन कालीचरन ने 'प्रथम रश्मि', हेमराज सुन्दर ने 'चेतना', मोरिशस के राष्ट्रगीत के रचयिता पं० बौधनाथ रामनाथ पांडे ने 'बिल्व पत्र या ईश्वर प्रार्थना', 'सनातन धर्म बाल प्रश्नोत्तर', 'सनातनी विवाह के गीत', ठाकुरदत्त पांडेय ने 'पुष्पांजलि', 'निशा', परमेश्वर बिहारी ने 'अभिशाप' काव्य-कृतियां हिन्दी संसार को दी हैं।

श्री अभिमन्यु अनत शबनम इस समय मोरिशस के शीर्ष लेखक, कवि और नाटककार हैं। अब तक इनकी 'चौथा प्राणी', 'आंदोलन', 'और नदी बहती रही', 'जम गया सूरज', 'एक बीघा प्यार', 'इन्सान और मशीन', 'खामोशी के चीत्कार', 'लाल पसीना', 'कुहासे का दायरा' आदि प्रमुख कृतियां प्रकाशित हो चुकी हैं। इनके 'विरोध' नामक नाटक का अभिनय पिछले वर्ष लखनऊ में सफलतापूर्वक किया गया। श्री अभिमन्यु मोरिशस के अत्यंत समर्थ साहित्यकार हैं। इनकी कृतियों में मोरिशस के मज़दूरों, किसानों की टीस-भरी आवाज़ पायी जाती है। 'आंदोलन' और 'लाल पसीना' उपन्यास इसके प्रमाण हैं। इसके अतिरिक्त अब तक इनकी छोटी-बड़ी 200 कहानियां भी प्रकाश में आ चुकी हैं। श्री दीपचन्द बिहारी ने दो कहानी-संग्रह 'सागर पार' और 'स्वर्ग में क्या रखा है?' प्रेमचन्द मूली ने 'चिराग और तूफान', विष्णुदत्त चन्द्र मधु ने 'फट गई धरती', 'राष्ट्र-रश्मि' तथा श्री कृष्णलाल बिहारी 'बेखबर' ने 'पहला क़दम' नामक कृति हिन्दी मन्दिर में अर्पित की हैं। श्री 'बेखबर' जी मोरिशस के पहले उपन्यासकार कहे जाते हैं। श्री देववंशलाल रामनाथ ने 'हमारी मातृभूमि के सम्मान में', 'आध्यात्मिक गाइड' कृति देकर अपने हिन्दी-सेवक होने का प्रमाण उपस्थित किया है।

नाट्य-क्षेत्र में श्री जयनारायण राय ने एक नाटक 'जीवन-संगिनी' (1941), बृजेन्द्र भगत मधुकर ने 'आदर्श बेटी', ठाकुरदत्त पांडेय ने 'पांच एकांकी और एक सपना', पं० रामदत्त शर्मा ने 'भाभी की ममता', 'बताऊं', अभिमन्यु अनत ने 'विरोध' आदि नाट्य-कृतियां लिखी हैं। लघु कहानी के क्षेत्र में श्रीमती भानमती नागदान अग्रणी हैं। इनका कहानी-संग्रह 'मिनिस्टर' है जिसमें सामाजिक क्रंदन और मनोवैज्ञानिकता अधिक है। श्री सोनालाल नेमधारी ने 'पश्चात्ताप' नाम से अपनी कथा-कृति लिखी है।

पं० विष्णु दयाल के लिखे 'सरल हिन्दी व्याकरण' का स्थान मोरिशस में सर्वोपरि है जिसका अब तक दसवां संस्करण प्रकाशित हो चुका है। आपकी दर्जनों पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।

श्री मोहनलाल मोहित की 'सत्संग सुमन', 'मोरिशस में आर्यसमाज' पुस्तकें भी अपना

विशिष्ट स्थान रखती हैं। संस्मरण विधा के क्षेत्र में श्री सुरेश रामवर्ण की 'चाचा रामगुलाम के संस्मरण' उच्च कोटि की है। मोरिशस में हिन्दी की ज्योति जलाये रखने में श्री दयानन्दलाल वसन्तराय का योगदान प्रशंसनीय है। आपने ही प्रथम विश्व हिन्दी सम्मेलन, नागपुर में 'राष्ट्र संघ में हिन्दी को स्थान मिलना चाहिए' का प्रस्ताव रखा था। द्वितीय विश्व हिन्दी सम्मेलन, मोरिशस में भी आपने इस प्रश्न को दोहराया। आप ही इस सम्मेलन के स्वागताध्यक्ष थे।

इसके अतिरिक्त इस समय मोरिशस में श्री रामदेव धुरन्धर, नारायणपत दसोई, हरीश बुद्धू, केवल प्रसाद जीबोध, परमेश्वर छेदी, पूजानन्द नेमा, महेश रामजियावन, झगरू मधु, चन्द्रदीप जोधन, विष्णुदत्त मधु, मंगल प्रसाद तिलकधारी, ज्ञानदत्त महावीर, मोहनलाल, बृजमोहन, जगलाल राणा, राजेश शिवसहाय, कु० पुष्पा बम्मा, कु० सुनीति आलीमार, हीरालाल लीलाधर, ज्ञानेश्वर रघुवीर, आर्यदत्त जोगेश्वर तथा राजमोहन जींग्री आदि हिन्दी-सेवा में लीन हैं।

फ़िजी में पं० तोताराम सनाढ्य की हिन्दी-सेवा भुलाई नहीं जा सकती है। 'फ़िजी में इक्कीस वर्ष' इनकी उत्कृष्ट पुस्तक है। इस समय फ़िजी में पं० विवेकानन्द शर्मा हिन्दी-लेखन और प्रचार में संलग्न हैं। अब तक इनकी प्रकाशित कृतियों में 'रातू सर कमिसेसे मारा, (जीवनी), 'जब मानवता कराह उठी', 'फ़िजी के गांव में भारतीय किसान', 'फ़िजी के भारतीय पर्व', 'प्रार्थना-पुस्तक', 'हवन-पुस्तिका', 'वैदिक प्रार्थना', 'रामायण आरती', 'प्रशांत की लहरें' आदि प्रमुख हैं। इनकी काव्य-शैली में आलंकारिता और व्यंजना की प्रचुरता है। श्री शर्मा का लिखा 'सरल हिन्दी व्याकरण' फ़िजी में उसी प्रकार हिन्दी व्याकरण का आधार है जिस प्रकार भारत में स्व० श्री कामताप्रसाद गुरु का व्याकरण। आपने हिन्दी प्रकाशन के लिए फ़िजी में 'प्रशांत प्रकाशन' के नाम से संस्था चलाकर अनुकरणीय साहस का परिचय दिया है। इसके अतिरिक्त पं० कमला प्रसाद मिश्र भी हिन्दी-सेवा में रत हैं। आप,'जय फ़िजी' पत्रिका के संपादक हैं। श्री गुरुदयाल शर्मा, संपादक 'शांति दूत' की भी हिन्दी पत्रिकारिता उच्चकोटि की है। फ़िजी में हिन्दी पत्र के माध्यम से हिन्दी को लोकप्रिय बनाने में आप दोनों भारत के पं० प्रताप नारायण मिश्र और श्री बालमुकुन्द गुप्त आदि की भांति अपनी भूमिका निबाह रहे हैं। श्री दिवाकर प्रसाद और श्री माताप्रसाद का साहित्य-प्रेम फ़िजी आकाशवाणी के द्वारा जनता तक पहुंचता रहता हैं। इसके अतिरिक्त इस समय फ़िजी में श्री सी० एस० पिल्लय, पागल दूबू, ए० पी० सिंह, कु० वसन्तरा मनिरायन, कु० मंजू मनोरथ, सुखराम, रामलोचन, श्याम नारायण शर्मा, धर्मेन्द्र शर्मा, कन्दर स्वामी, कुंवर दीवान, गिरिवरसिंह, लालसिंह, केशवानन्द शर्मा, सत्येन शर्मा, दीवान चन्द, जान शेरमोहन, फिलीमोनी रोबी, विष्णुदत्त शर्मा, भंवरा तथा कुबेरदास आदि भी हिन्दी-सेवा में अविरल कार्य कर रहे हैं।

ब्रह्मदेश के पं० हरिबदन शर्मा का हिन्दी-कार्य कभी भुलाया नहीं जा सकता है। आपने सन् 1923 में ब्रह्मादेश में हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्थापना की तथा हिन्दी को वढ़ाने में अहिर्निश लगे रहे। हिन्दी, संस्कृत और बर्मी भाषा के विद्वान् श्री ऊल्हा चाई उर्फ ऊ पारगू को संस्कृत के 'सौंदरानन्द' के अनुवाद पर बर्मी सरकार ने प्रथम पुरस्कार से अलंकृत किया। इसी प्रकार श्री चन्द्रप्रकाश शर्मा को भी प्रेमचन्द के 'गोदान' के बर्मी अनुवाद पर राजकीय पुरस्कार मिल चुका है। श्री श्यामलाल भारती उर्फ ऊ बाती ने 'हिन्दी शिक्षावली' पुस्तक लिखकर हिन्दी का प्रसार किया। बर्मी भाषा में 'श्रीरामचरितमानस' का अनुवाद भी हुआ जो वहां अति प्रसिद्ध है। श्री ऊतोंजीन ने कालिदास के मेघदूत और शकुंतला का अनुवाद करके उसे लोकप्रिय बनाया। श्री सत्यनारायण गोयनका ने 'धम्मगीत' का अनुवाद किया है। इसके अतिरिक्त श्री श्यामचरण मिश्र ने 'वर्मा आज और कल', 'वर्मा का इतिहास', 'समाजवादी वर्मा', और

'प्रवासी' आदि कृतियां हिन्दी को दी हैं। साथ ही डा० ओमप्रकाश की हिन्दी-सेवा भी स्तुत्य है। नेपाल में श्री धूस्वां सायमि की हिन्दी-सेवा स्तरीय है। आपका 'जलजला' उपन्यास हिन्दी-जगत् में चर्चा का विषय बन चुका है।

दक्षिणी अफ्रीका में स्वामी भवानी दयाल जी संन्यासी का कार्य प्रशंसनीय ही नहीं अपितु अनुकरणीय भी है। आपने वहां से 'हिन्दी' नामक पत्र के संपादन के साथ अनेक हिन्दी पुस्तकों की रचना करके दक्षिणी अफ्रीका में हिन्दी साहित्य सम्मेलन (1916) स्थापित किया। पं० नरदेव वेदालंकार 'हिन्दी शिक्षा' (चार भाग), 'धर्म शिक्षा पाठावली' (तीन भाग) आदि पुस्तकें लिखकर हिन्दी की ज्योति अक्षुण्ण रखी। गयाना में पं० रामलाल, गोकरन शर्मा, ट्रिनिडाड में श्री भास्कर राज, श्रीमती लीला मुसाई, मिस मेरी पेनी रामेसर, श्याम बहल आदि की हिन्दी-सेवाएं श्लाघ्य हैं। सूरीनाम में श्रीमती कमला जगमोहन, कविश्री निवासी, पं० बद्री रमीघ शर्मा आदि की हिन्दी सेवा से भारतीयता की सुरक्षा और संस्कृति की ज्योति प्रज्वलित है। डा० जे० पी० कोलेश्वर सुकुल, जो सूरीनाम में संस्कृत के विद्वान् हैं, ने गीता का अनुवाद भी किया है। कवि गुरुदत्त कालासिंह का गीत—'सारे जग से प्यारा सूरीनाम हमारा' तथा 'आज हम भारत के गुन गायक हैं' आबाल-वृद्ध, नर-नारी सभी बड़े प्रेम से गाते हैं। जिस प्रकार भारत में स्व० पं० रामनरेश त्रिपाठी द्वारा रचित प्रार्थना—'हे प्रभो, आनन्ददाता ज्ञान हमको दीजिए' सभी स्कूलों में गायी जाती है, ठीक उसी प्रकार श्री कालासिंह का यह गीत सूरीनाम में गाया जाता है।

इसी प्रकार कीनिया, तंजानिया, रिन्यून, सीसेल आदि देशों में भी हिन्दी के यत्र-तत्र पुष्प खिले हैं जिनकी सुगंध आर्यसमाज के प्रचारकों के द्वारा कभी-कभार यहां तक पहुंच जाती है। वैसे आर्यसमाज, सनातन धर्म सभा का हिन्दी संरक्षण कार्य इन देशों में बहुत ही प्रशंसनीय और प्रेरणादायक है। आज भी ये संस्थाएं भारतीय भाषा और संस्कृति को विदेशों में पल्लवित एवं पुष्पित कर रही हैं। इसीलिए बिना इनके उल्लेख के 'विश्व हिन्दी साहित्य का इतिहास' अधूरा ही रह जायेगा।

अभी दो वर्ष पूर्व भारत में हिन्दी पत्रकारिता के 150 वर्ष पूर्ण होने पर कई हिन्दी पत्रों ने अपने विशेषांक निकाले, सभाएं की और उत्सव हुए पर कितना आश्चर्य है कि विदेशी हिन्दी पत्रकारिता पर किसीका भी ध्यान नहीं गया। यदि संकेत रूप में किसीने कुछ लिख भी दिया है तो वह मात्र सूचना थी न कि अपने निष्पक्ष कर्त्तव्य का निर्वाह अथवा पत्रकारिता के समान-धर्मा भाव का आकलन। जब कि विदेशों में हिन्दी पत्रों ने ही हिन्दी की रक्षा की है। वहां उनका वही स्थान एवं योगदान है जो कि हमारे देश में हिन्दी के प्रचार-प्रसार में 19वीं शताब्दी के अंतिम चरण और 20वीं शताब्दी के प्रथम चरण में हिन्दी पत्रों का रहा। जब हमारे यहां हिन्दी पत्रों की पौध लगायी जा रही थी तो उसी समय 1883 में लंदन से 'हिन्दोस्थान' नामक पत्र निकला। दक्षिणी अफ्रीका से 1903 में 'इंडियन ओपीनियन' का हिन्दी संस्करण निकला। आज वहां से 'हिन्दी' नामक पत्र निकलता है। 'इंडियन ओपीनियन' सर्वप्रथम डर्बन से निकला। डर्बन में श्री मदनजीत का एक प्रेस था। 'इंडियन ओपीनियन' के संपादक श्री मनसुखलाल नाजर थे; पर कार्य गांधीजी देखते थे। यह पत्र गुजराती, तमिल, हिन्दी और अंग्रेज़ी में निकलता था। गांधीजी ने इसकी आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए अपनी 4000 पौंड की राशि लगा दी थी। इस समय यूनेस्को का 'कूरियर' हिन्दी में भी प्रकाशित हो रहा है। मोरिशस में जनता, जमाना, अनुराग, शिवरात्रि, आर्योदय, आभा, दर्पण, वसन्त का योगदान सराहनीय है। मोरिशस के उत्कृष्ट पत्रकारों में पं० विश्वनाथ आत्माराम, पं० काशीनाथ किष्टो, पं० व्रजनाथ माधव

वाजपेयी, पं० रामअवध शर्मा और सोमदत्त बखोरी उल्लेख्य हैं। फ़िजी से—जय फीजी, फीजी संदेश, फीजी समाचार, शांति दूत, जागृति, सनातन संदेश, किसान समाचार, ट्रिनिडाड से—कोहिनूर अख़बार, ज्योति और सूरीनाम से धर्म प्रकाश, विकास, वैदिक सन्देश आदि का प्रकाशन हुआ। ब्रह्मदेश में हिन्दी पत्रकारिता के क्षेत्र में दैनिक 'प्राची प्रकाश', 'नवजीवन', साप्ताहिक 'प्रवासी' तथा मासिक 'ब्रह्म भूमि' आदि का कार्य संतोषजनक रहा। 'प्राची प्रकाश' 1934 में आरंभ हुआ तथा इसके संस्थापक श्री अनंतराम मिश्र थे। प्रवासी के संस्थापक एवं प्रकाशक-संपादक श्री श्यामाचरण मिश्र थे। इस समय ब्रह्मदेश से 'ब्रह्म भूमि' प्रकाशक श्री ब्रह्मानन्द और संपादक श्री राम प्रसाद वर्मा के कुशल नेतृत्व में अपनी हिन्दी-सेवा अर्पित कर रहा है। किसी समय यहां से 'आर्य युवक पत्रिका' का भी प्रकाशन हुआ था। लन्दन से—'अमर दीप' और 'प्रवासिनी', जापान से—'अंक' आदि पत्रों का प्रकाशन हिन्दी प्रत्रकारिता की विश्वजनीनता को मानस-पटल पर अंकित करने में अपना अमूल्य योगदान दे चुके हैं। यद्यपि इस सूची के बहुत-से पत्र काल-कवलित हो चुके हैं पर अधिकांश जैसे—मोरिशस से अनुराग, वसंत, फ़िजी से शांतिदूत और जय फीजी, ब्रह्मदेश से ब्रह्म भूमि सूरीनाम से धर्म-प्रकाश और वैदिक सन्देश आदि अब नयी चेतना, नयी स्फूर्ति और नयी आशा से प्रकाशित हो रहे हैं। यदि हिन्दी पत्रकारिता के इतिहास में इनका नाम रखा जाय तो निस्संदेह हमारी हिन्दी का वैश्विक रूप निखर सकता है।

आज हम हिन्दी को विशाल से विशालतर पैमाने पर देखना चाहते हैं पर उसका अब तक का इतिहास-लेखन अत्यंत अपर्याप्त है। ऐसी दशा में हिन्दी के राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय रूप की कल्पना कैसे साकार होगी ? हिन्दी के सम्पूर्ण सेवकों और लेखकों को अपनाये बिना 'विश्व हिन्दी साहित्य के इतिहास' का 'महायज्ञ' पूर्ण नहीं होगा। हिन्दी एकदेशीय नहीं वरन् बहुदेशीय है। इस हिन्दी-सागर में चारों ओर से निर्मल जल आकर मिल रहा है। तभी तो फ़िजी के पं० विवेकानन्द शर्मा ने प्रथम हिन्दी सम्मेलन में कहा था कि "इस सम्मेलन में हमें ऐसा लग रहा है जैसे ८८ हज़ार ऋषियों के सम्मुख मैं एक बालक बोल रहा हूं। हम फ़िजी में बसे प्रवासी लोग अपनी संस्कृति और अपनी आत्मा के लिए भारत की ओर देखते हैं। मगर हिन्दी रूपी द्रौपदी आज भारत में ही नग्न हो रही है और अनेक भीष्म और द्रोण चुप बैठे हैं। आज कृष्ण नहीं हैं, मगर फ़िजी जैसे छोटे-से द्वीप से भी हम चीर देने को तैयार हैं। इसके लिए हम शहीद होने को भी तैयार हैं।" इसी अवसर पर जर्मनी के हिन्दी विद्वान् श्री लोठार लुत्से ने भी कहा था कि "हिन्दी जब तक भारत की अपनी भाषा नहीं बनती, तब तक इसे विश्व-भाषा बनाने का प्रयास उपहासास्पद है। यदि आप हिन्दी को राष्ट्र संघ की भाषा बनाना चाहते हैं तो पहले इसे अपने राष्ट्र की भाषा बनाइये।"

अतएव आज जब दो 'विश्व हिन्दी सम्मेलन' के आयोजन के बाद 'विश्व हिन्दी दर्शन' का प्रकाशन हो रहा है तो ऐसे साहित्यिक अवदान में 'विश्व हिन्दी साहित्य का इतिहास' बनाकर इसकी त्रिवेणी को प्रवाहित करना होगा, तभी हम ससम्मान एक 'हिन्दी-संसार' में अपनी अस्मिता की रक्षा कर सकने में समर्थ होंगे। □

अब्दुर्रहीम खानखाना काशी में तुलसीदास से रामायण सुना करते थे

जहीर नियाज़ी

□ □

शाम अपने शबाब पर थी। गंगा घाट का हुस्न निखर आया था। तुलसीदासजी रामायण का पाठ कर रहे थे। श्रोताओं के दिलो-दिमाग़ रामायण के एक-एक शब्द से सुगंधित हो रहे थे। इन श्रोताओं में एक श्रोता ऐसा भी था जिसकी रामायण-दिलचस्पी सबसे लाजवाब थी। सभा जब समाप्त हुई तो तुलसीदास ने एक भक्त से पूछा :

"क्या तुम बता सकते हो कि वह आदमी कौन है जो मुंह पर ढाटा बांधे घाट की सीढ़ियों पर प्रतिदिन बैठा करता है और जब मैं रामायण का पाठ करता हूं तो वह उसमें डूब जाता है ?"

"मैं उस आदमी के बारे में कुछ नहीं जानता, स्वामी।"

"वह अद्‌भुत विभूति हैं मिर्ज़ा अब्दुर्रहीम ख़ानख़ाना, जो जहांगीर के डर मे मुंह छिपाये और अपनी जान बचाये इधर-उधर भटकने पर विवश हैं।" तुलसीदास ने बताया।

यह उन दिनों की बात है जब हिन्दी की महान् विभूति अब्दुर्रहीम खानखाना, जिन्हें अकबर ने अपने नवरत्नों में स्थान दिया था, मुग़ल शाहंशाह जहांगीर के डर से फ़रारी की ज़िन्दगी जीने पर मजबूर थे। किस्सा बड़ा दर्दनाक है। ख़ानख़ाना को अकबर ने जो इज़्ज़त दे रखी थी, उससे शाही दरबार के लोग बहुत जलते थे। अकबर के ज़माने में ही इन हासिद दरबारियों ने खानखाना के खिलाफ़ एक ज़हरीली साज़िश तैयार की थी, पर उसमें उन्हें कामयाबी नहीं मिली। हां, जहांगीर के ज़माने में वे अपनी षड्‌यंत्र-भरी योजना में ज़रूर सफल हो गये। इन षड्‌यंत्रकारियों ने जहांगीर को इस बात का यक़ीन दिलाया कि ख़ानख़ाना अपने बेटे दाराब के साथ मिलकर शाहंशाह के ख़िलाफ़ एक ज़बर्दस्त बग़ावत की तैयारी कर रहा है और इस बग़ावत के ज़रिये अपने बाप की उस बग़ावत की नाकामयाबी का बदला चुकाना चाहता है जो बग़ावत उसके बाप बैरम खां ने अकबरे-आज़म के ख़िलाफ़ बुलंद की थी।

षड्‌यंत्रकारी हर युग में रहे हैं और वे अपने साज़िशी गुल खिलाने में शैतान को भी मात करते रहे हैं। जहांगीर के दौर में भी यही हुआ। हासिद दरबारियों ने ऐसी दलीलें पेश कीं और ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी कि बादशाह के लिए इस बात का विश्वास करने के सिवा कोई चारा न रह गया कि ख़ानख़ाना अपने बेटे के साथ वाक़ई बग़ावत कर बैठेगा। चुनांचे जहांगीर ख़ानख़ाना पर बेरहम बादल बनकर बरसा। खानखाना की सेवा में जल्दी ही एक 'तोहफ़ा' तश्तरी में रखकर भेज दिया गया और वह तोहफ़ा था उसके अपने जिगर के टुकड़े दाराब का कटा हुआ सर।

"हाय जहांगीर, यह तूने क्या किया ! इससे अच्छा तो यह था कि तूने मेरा सर क़लम करा दिया होता।"

पर जहांगीर अपने उस्ताद का सर कैसे क़लम कराता ? हां, उसने ख़ानख़ाना को इतनी सज़ा ज़रूर दी कि उसकी सारी जागीर ज़ब्त कर ली और समस्त शाही उपाधियां छीन लीं। खानखाना को इन सब के छिन जाने से ज़रा-सा भी ग़म न हुआ। ग़म हुआ तो अपने जिगर दाराब का—दाराब, जो ख़ानख़ाना का तीसरा और आखिरी बेटा था। इससे पहले दो बेटे ईरज और रहमान तो ऐन जवानी में ही जुदाई का दाग़ दे चुके थे। बस ले-दे के आंखों का नूर और दिल का सरूर यही लड़का था। खानखाना को ग़म तो लड़के का था ही, दो लड़के और एक जवान लड़की का ग़म पहले ही क्या कम था कि उसपर से यह शाही सितम …!

जवान लड़की भी विधवा हुई तो एक तरह से शाही सितम ज़रीफ़ी के ही कारण। वह क़िस्सा भी बड़ा दर्दनाक है। ख़ानख़ाना की बेटी अकबर के बेटे दानियाल से ब्याही गयी थी। दानियाल पक्का शराबी था। उसकी शराब की लत जब हद से अधिक बढ़ गयी तब अकबर ने उसे मजबूरन एक महल में नज़रबन्द कर दिया और उस महल की निगरानी सौंपी ख़ानख़ाना को, "लो भाई, अपने दामाद को तुम्हीं संभालो।" पर दानियाल कहां संभलने वाला था। उसने अपनी बरबादी का सामान उस नज़रबन्दी के आलम में भी पैदा कर ही लिया। उसने अपने एक ख़ास रफ़ीक़ को कहा कि "शराब को मेरे होंठों तक लाने का सिर्फ़ एक ही रास्ता है और वह यह कि तुम शराब को बन्दूक की नली में छुपाकर लाओ।" बन्दूक की नली में शराब बन्द होकर दानियाल तक पहुंच तो गयी पर उसके होठों से लगते ही उसे दूसरी दुनिया के सफ़र पर भेजने का सबब भी बन गयी क्योंकि उस बन्दूक की नली में जंग था और जंग से ज़हरीला असर पैदा हो गया था इस प्रकार ख़ानख़ाना की प्यारी बेटी एक शाहंशाह के सुपुत्र की शाही लत और उस जानलेवा लत की सितम जरीफ़ी के हाथों भरी जवानी में ही बेवा हो गयी।

जब जहांगीर का अताब ख़ानख़ाना पर नाजिल हुआ तो वे एकदम से टूटकर रह गये। दाराब के क़त्ल का गहरा ग़म लिये वे रीवां चले गये। एक समय वह भी आया कि उन्हें छतरकोट में एक भड़भूजे के यहां नौकरी करने पर मजबूर होना पड़ा। इसी स्थान पर कभी तुलसी के राम ने भी अपने वनवास के दिन गुज़ारे थे। यहां से वे भटकते-भटकते, छिपते-छिपाते वाराणसी पहुंचे। वाराणसी में उन्होंने दुःख के काफ़ी दिन गुज़ारे। पर उन्हें उस समय अत्यन्त मानसिक और हार्दिक सुख मिलता था जब गंगा घाट की सीढ़ियों पर बैठे-बैठे वे गोस्वामी तुलसीदास से रामायण का पाठ सुना करते थे। बाद में रामायण में उनकी दिलचस्पी की हद न रही और वे तुलसी के गहरे मित्र बन गये। □

साया मुझसे बेहतर

एक बार मजाज लखनवी हमेशा की तरह शराब के नशे में सड़क पर टहल रहे थे और उनका साया उनसे भी बड़ा होकर सड़क पर फैला हुआ था। ऐसे में एक सुन्दर महिला तेज कदम उठाते हुए उस साये को रौंदकर जब गुजर गयी तब मजाज ने तुरन्त ही ये लाइनें पढ़ी—

"मेरा साया मुझसे बेहतर है, कि उन कदमों में है।"

दक्षिण के अहिन्दी-भाषी लेखकों का हिन्दी के प्रति दृष्टिकोण

श्रीमती हेमलता आंजनेयुलु

□ □

स्वाधीनता-संग्राम के संघर्ष में जिस तेज़ी, उत्साह और अभिमान के साथ दक्षिणवासियों ने भाग लिया था उसी तेज़ी, उत्साह और अभिमान के साथ लोगों ने राष्ट्रभाषा हिन्दी का स्वागत किया था। मद्रास में दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा का श्रीगणेश हुआ। बापू के आशीर्वाद में संस्था पनपने लगी। आज स्नातकों की संख्या लाखों में है। संस्था अपनी हीरक जयन्ती मनाने की तैयारी में है।

जैसे-जैसे राजनीतिक परिस्थितियां बदलती गयीं तथा स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद हिन्दी को राजभाषा का रूप प्रदान किया गया, वैसे-वैसे परिवर्तनों का चक्र गतिवान हो गया। पहले यदि हिन्दी सीखना लोग अपने लिए गौरव की बात समझते थे, तो अब वह विवाद का केन्द्र बन गया है। प्रतिक्रियाएं दोनों तरफ़ होती गयीं। इसीके दौरान हिन्दी के विभिन्न रूप सामने आये, जैसे —साहित्यिक, राज-संचालन की भाषा, व्यापार-धंधे के लिए, सांस्कृतिक आदान-प्रदान, वैज्ञानिक-तकनीकी विषयों के साथ-साथ दर्शन, इतिहास जैसे मानविकी विषयों के लिए माध्यम, जोड़ भाषा आदि। इनके बारे में लोगों की अलग-अलग रायें सामने आने लगीं।

सितम्बर 1978 के अन्त में 'विश्व हिन्दी दर्शन' के सम्पादक श्री लल्लनप्रसाद व्यास मद्रास आये और उन्होंने मुझे कार्यभार सौंपा कि दक्षिण के प्रतिष्ठित लेखकों से इस विषय पर विचार-विमर्श कर उनके विचार प्रस्तुत करूं। प्रश्नोत्तरी इस प्रकार थी :

1. विदेशों में हिन्दी के प्रचार-संबंधी अंतर्राष्ट्रीय प्रयासों और हिन्दी में विश्व लेखन प्रस्तुत करने के परिप्रेक्ष्य में समकालीन सृजनात्मक लेखन के माध्यम के रूप में हिन्दी को आप किस रूप में पाते हैं ?
2. इतिहास, दर्शन तथा ज्ञान की विभिन्न शाखाओं के समीक्षात्मक प्रस्तुतीकरण, भाव-ग्रहण और प्रसार के बारे में हिन्दी की क्षमता के सिलसिले में आपकी क्या राय है ?
3. हम सभी आदान-प्रदान से परिचित हैं। आपकी भाषा और हिन्दी के बीच कितनी प्रगति हुई है ? इसे त्वरता देने के लिए आपकी क्या राय है ?
4. यूनेस्को की रिपोर्ट के अनुसार हिन्दी-भाषियों का स्थान तीसरा है। भारत में इसकी कई बोलियां हैं और ये सब मिलकर हिन्दी की मुख्य धारा बनाती हैं। व्यापार, धन्धा आदि के विषय में हिन्दी के जोड़-भाषा-रूप के बारे में आपकी क्या राय है और क्या अपेक्षाएं हैं ?

5. सांस्कृतिक आदान-प्रदान और राष्ट्रीय समन्वय के विकास-माध्यम के रूप में हिन्दी के बारे में आपकी क्या राय है ?
6. हिन्दी के लिए कार्य करते समय निषेधात्मक दृष्टिकोण का कोई स्थान नहीं है, केवल लोगों का सद्भाव ही चाहिए। सद्भाव के विचार को वास्तविक रूप में ढालने के लिए आपके विचार से क्या करना चाहिए ?
7. हिन्दी क्षेत्र में अहिन्दी-भाषी विद्वानों का सम्मान किया जाता है। क्या आपके भाषायी क्षेत्र में हिन्दी-भाषी विद्वानों का इसी प्रकार सम्मान किया जा रहा है ? आपकी सद्भाव और बंधुत्व की भावनाओं को बढ़ाने के लिए हम क्या कर सकते हैं ?
8. हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं के बीच भावों के मुक्त प्रसार की संभावना है। इसे प्रत्यक्ष रूप देने और सार्वभौम मान्यता प्राप्त कर सकने योग्य बनाने के लिए हमें कौन-से उपाय करने चाहिए ?

मैंने यहां की चार प्रमुख भाषाओं तथा संस्कृत के विद्वान् साहित्यकारों—सर्वश्री अखिलन (तमिल), पी० पद्मराजु (तेलुगु), एम० गोविन्दन (मलयालम), डा० ए० शंकर केडिलाया (कन्नड़) और डा० वी० राघवन् (संस्कृत) से संपर्क स्थापित कर भेंटवार्ता की। इन भेंटवार्ताओं का सार अब मैं प्रस्तुत करती हूं, जो कई अछूते पहलुओं पर प्रकाश डालता है।

पहले प्रश्न के बारे में सर्वश्री एम० गोविन्दन, पद्मराजु और डा० केडिलाया ने कहा कि जो थोड़ी-बहुत जानकारी उन्हें प्राप्त है उसके आधार पर वे समझते हैं कि किसी भी अन्य भारतीय भाषा की तरह हिन्दी में भी अनुकूल क्षमता है। डा० राघवन् ने पहले दक्षिण की भाषाओं के साथ अच्छे संबंध स्थापित करने की बात की और कहा कि उन-उन भाषाओं के शब्द-भण्डार का संग्रह करने के लिए, केवल ऊपरी सहृदयता से काम नहीं चलेगा। श्री अखिलन का सुझाव था कि यदि हिन्दी वास्तव में राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय भाषा बनेगी तो बाहरी दुनिया में हिन्दी का प्रचार करने से पहले उसे दूसरी भाषाओं की हर क्षेत्र की सर्वोत्तम रचनाओं को अंगीकार कर अपनेको सम्पन्न बनाना होगा। प्रचार की दिशा का यह पहला क़दम होगा। सर्वोत्तम कृतियों का अंग्रेज़ी में अनुवाद कर अंग्रेज़ी भाषा ने अपने को सम्पन्न बनाया है। अतएव हिन्दी में भी तमिल, तेलुगु, कन्नड़, मलयालम जैसी अन्य भारतीय भाषाओं की उत्कृष्ट काल-जयी रचनाओं का अनुवाद होना चाहिए।

ज्ञान-प्रसार, प्रस्तुतीकरण और आत्मसात् की स्थिति ला सकने की हिन्दी की क्षमता के बारे में प्रायः सभी एकमत थे। अखिलन ने चाहा कि विराट् पैमाने पर पहले आत्मसात् करने का प्रयत्न किया जाये। डा० राघवन ने सुझाव प्रस्तुत किया कि हिन्दी को आधुनिक विचारधारा, दर्शन आदि आधुनिक शिक्षा की शाखाओं के समकक्ष होने के लिए हाल में गढ़े गए शब्दों में दो प्रकार का सुधार किया जाये। एक तो प्राचीन संस्कृत से शब्द लिए जायें क्योंकि इस भाषा की तकनीकी और वैज्ञानिक शाखाएं हैं। और दूसरे, शब्द उन सारी क्षेत्रीय भाषाओं से लिये जायें जिनके पास सम्पन्न शब्द-भण्डार हो।

आदान-प्रदान के प्रश्न पर इन विद्वानों के मतों में समानता से अधिक सुझावों की भर-मार थी। पद्मराजु जी ने इसे अन्य अनुदानप्राप्त सरकारी योजनाओं की तरह ही लड़खड़ाती चलती योजना माना। उनका मत है कि यदि भारी संख्या में बिकने वाली लोकप्रिय पत्रिकाओं को यह कार्य सौंपा जाये और स्वच्छा से कार्य करने वाली पत्रिकाओं को प्रोत्साहन दिया जाये तो काफी सफलता मिल सकती है। गोविन्दन जी का ख़्याल था कि मलयालम के सिलसिले में यह एकतरफ़ा हो रहा है। मलयालम की रचनाओं के हिन्दी अनुवाद और अधिक होने चाहिए।

डा० केडिलाया ने पैरवी की कि कन्नड़-भाषी क्षेत्र में लोगों को पता नहीं है कि उच्चतर पाठशालाओं और कालेजों में हिन्दी-प्रशिक्षण के लिए कितनी सुविधाएं प्राप्त हैं। उनका मत है कि यदि अच्छे कान्वेण्ट स्कूलों के स्तर की शालाओं में उच्च स्तरीय प्रशिक्षण दिया जाये और इच्छुक लोगों के पढ़ने के लिए पर्याप्त स्कूल हों तो कई पालक अपने बच्चों को ऐसी संस्थाओं में भेजेंगे। जिस तरह आज के विद्यार्थी कान्वेण्ट स्कूलों में पश्चिमी विचारधारा से अवगत होते हैं, उसी तरह इन नयी संस्थाओं में हिन्दी सीखकर वे भारतीय सांस्कृतिक दृष्टिकोण की जानकारी पायेंगे। हिन्दी-प्रसार का कार्य आसानी से बढ़ेगा।

डा० राघवन् हिन्दी और दक्षिणी भाषाओं के बीच बहुत कम आदान-प्रदान पाते हैं।

अखिलन जी ने कहा कि यदि स्वाधीनता-पूर्व आदान-प्रदान, साहित्य-क्षेत्र में स्वेच्छा से होता था तो आज वह साहित्य अकादेमी, नेशनल बुक ट्रस्ट और सरकारी प्रतिष्ठानों जैसी संस्थाओं के द्वारा हो रहा है। आदान-प्रदान की सबसे बड़ी समस्या तो यह है कि हिन्दी-भाषी अन्य भाषाओं को सीखने और अपनी भाषा में अनूदित करने के लिए आगे नहीं बढ़ रहे हैं। दक्षिण की विभिन्न भाषाओं में उस-उस प्रदेश के भाषा-भाषियों द्वारा उनकी रचनाओं के अनुवाद की मिसाल देते हुए अखिलन जी ने ज़ोर दिया कि अन्य भाषाओं के हिन्दी अनुवाद उन्हींके द्वारा होने चाहिए जिनकी मातृभाषा हिन्दी है। तभी अनुवाद या सृजनात्मक कृति के साथ पूरा-पूरा न्याय हो सकता है। कम से कम कुछ चुने हुए व्यक्तियों को अपना सारा जीवन अन्य भारतीय भाषाओं के सीखने और उन्हें हिन्दी में अनूदित करने में लगा देना चाहिए। समर्थ अनुवादों के द्वारा सारी राष्ट्रीय सम्पदा हिन्दी में प्राप्त होनी चाहिए। अखिलन जी ने अनेक पश्चिमी विद्वानों की मिसाल दी जिन्होंने तमिल भाषा सीखने और संस्कृति को आत्मसात् करने में अपना सारा जीवन खपा दिया था।

जोड़-भाषा के रूप के बारे में इन विद्वानों के मत में काफ़ी विभिन्नता पायी गयी। डा० राघवन् का विचार था कि हिन्दी उत्तर भारत में जोड़-भाषा भले ही बने पर दक्षिण में उतनी सरलता से नहीं बन सकती। इसके विपरीत गोविन्दन जी का मत रहा कि आगामी काल में वह और बड़े पैमाने पर जोड़-भाषा बनेगी। अखिलन जी का कहना है कि जब तक हिन्दी जोड़-भाषा के रूप में विकसित नहीं हो पाती तब तक अंग्रेज़ी और हिन्दी दोनों से काम चलाना होगा। हिन्दी या अंग्रेज़ी के प्रति विरोधी आंदोलन राष्ट्रीय समन्वयन के लिए हानिकारक होंगे। इसी संदर्भ में अखिलन ने रोचक प्रसंग बताया। वे स्वयं जब हिन्दी सीखने लगे तो व्याकरण में लिंग-प्रकरण में उन्हें बड़ी कठिनाई हुई। उनका कहना है कि लिंग प्रयोग की हिन्दी की वर्तमान स्थिति में तुरन्त सुधार कर नपुंसक लिंग, उभय लिंग आदि का प्रयोग आरंभ करना चाहिए। तभी बाहरी दुनिया के लोग इसे प्रौढ़ भाषा के रूप में स्वीकार कर सकेंगे।

पद्मराजु जी का कहना था कि जोड़-भाषा आवश्यकता के आधार पर विकसित होती है, सरकारी आदेश से नहीं। यदि राजनीतिज्ञ जनता और भाषा को मुक्त कर दें तो जोड़-भाषा के रूप में स्वीकार किये जाने के लिए हिन्दी में सारी अनुकूलताएं हैं। परन्तु कुछ हिन्दी-भाषियों के अत्यधिक उत्साह के कारण हिन्दी के विरुद्ध तनाव बढ़ रहा है। दूसरे अन्य भारतीय भाषाओं की अपेक्षा हिन्दी को ऊपर उठाने के प्रत्यक्ष या परोक्ष सरकारी प्रयास से, प्रसार-संबंधी प्रयत्नों पर पानी फिर रहा है।

डा० केडिलाया ने कहा कि हैदर अली और टीपू सुलतान के शासनकाल में दक्षिण क्षेत्र में दक्खिनी हिन्दी नाम से बहुत भारी संख्या में हिन्दुस्तानी शब्द भण्डार ने व्यापार-धन्धे और शासन के क्षेत्र में अपना स्थान बना लिया था। इसीलिए हिन्दी सीखने में अब काफी आसानी

होगी। दूसरे कन्नड़ या अन्य भारतीय भाषाओं की अपेक्षा कोंकणी हिन्दी के अधिक निकट है। कोंकणी में हिन्दी के समान ही कई लक्षण नज़र आते हैं। दक्षिणी कनारा में कर्नाटक संगीत की अपेक्षा हिन्दुस्तानी संगीत अधिक लोकप्रिय है।

सांस्कृतिक आदान-प्रदान और राष्ट्रीय समन्वय के बारे में श्री गोविन्दन का मत है कि अन्य भारतीय भाषाओं के समान ही हिन्दी भी निश्चित भूमिका अदा कर सकती है। पर राष्ट्रीय समन्वय के बारे में राजनीतिज्ञों की निरी खोखली नारेबाज़ी से बात बिगड़ रही है। अखिलन जी का मत है कि फ़िलहाल हिन्दी और अंग्रेज़ी दोनों का ही उपयोग किया जा रहा है। परिवर्तन धीरे-धीरे, बिना किसी धक्का-मुक्की के करना होगा। इस प्रक्रिया को त्वरता देने में भाषा भी एक साधन हो सकती है। डा० केडिलाया इस कार्य के लिए अधिक संख्या अच्छे स्तरीय में स्कूल आवश्यक समझते हैं। उनका मत है कि उचित वातावरण तैयार हो जाने से युवा पीढ़ी हिन्दी को अच्छे ढंग से स्वीकार करेगी। परन्तु, डा० राघवन् ने बताया कि हिन्दी सांस्कृतिक आदान-प्रदान का माध्यम नहीं बन सकती। समन्वय के लिए हिन्दी-भाषियों को ही पहले क़दम उठाना चाहिए।

सद्भाव के प्रश्न पर डा० राघवन् के विचार कुछ प्रखर भले ही हैं पर अधिकांश यही पाया भी जाता है। डा० राघवन् ने कहा कि हिन्दी के हिमायतियों को अपनी श्रेष्ठता की भाव-ग्रंथि, 'हम स्वीकार कर लिये गये' वाला दृष्टिकोण तथा अंतःपर्याप्तिता की भावना को त्यागना होगा। दक्षिण के जिन थोड़े विश्वविद्यालयों में हिन्दी को स्थान दिया गया है वहां दक्षिण भारतीय हिन्दी-विद्वानों को नियुक्त करना चाहिए न कि हिन्दी-भाषी राज्य, जैसे उत्तर प्रदेश, दिल्ली आदि स्थानों के विद्वानों को। डा० राघवन् का अनुभव है कि ये लोग दक्षिण के जीवन, वातावरण में समरस नहीं होते और न ही दक्षिणी संस्कृति और साहित्य की जानकारी पाने के इच्छुक हैं। डा० राघवन् ने बताया कि एक प्रतिष्ठित प्रोफेसर को दक्षिण में वर्षों रहने के बाद भी न तो तेलुगु, तमिल आदि भाषाओं का ज्ञान है, न उन्होंने कला और स्थापत्य के केन्द्र तंजोर, मदुरै जैसे सांस्कृतिक केन्द्रों को देखने की इच्छा ही की है। यहां तक कि नगर की किसी सांस्कृतिक गोष्ठी आदि में भी उन्हें नहीं देखा जा सकता। अपनी बात की पुष्टि में डा० राघवन् ने कहा कि जिस प्रकार अंग्रेज़ व्यक्ति का भारतीय नामों, उनके लिखने और बोलने का अपना ही तरीक़ा था, हिन्दी वक्ता या लेखक का भी दक्षिण के नामों के बारे में वैसा ही अपना तरीक़ा है।

परन्तु डा० केडिलाया अभिरुचि जगाने और उसे प्रोत्साहित करने के पक्ष में हैं। कालेजों में हिन्दी को द्वितीय भाषा के रूप में पढ़ने से विद्यार्थियों को लाभ ही होगा। वे चाहते हैं कि हिन्दी-भाषी और कन्नड़-भाषी क्षेत्रों में एक दूसरे क्षेत्र के संगीत, नृत्य, नाटक और अन्य सांस्कृतिक विधाओं का प्रस्तुतीकरण संबंधों को सुदृढ़ करेगा।

साहित्यकारों के सम्मान के बारे में डा० केडिलाया का मत है कि अनुकूल विज्ञापन की आवश्यकता है तथा सूचना प्रसार के हर माध्यम का पूरा उपयोग करना चाहिए। इससे एक-दूसरे क्षेत्र के साहित्यकारों की जानकारी साहित्य-प्रेमियों को मिल सकेगी। इसके लिए सुनि-योजित विज्ञापन, पुस्तकों व अनुवादों का प्रकाशन तथा आदान-प्रदान आवश्यक है।

पद्मराजु जी ने इस कार्य को गैरसरकारी संस्थाओं, हिन्दी प्रचार सभा जैसे संस्थाओं और सिने क्षेत्र आदि द्वारा किये जाने की बात की। उन्होंने ज़ोर दिया कि भारतीय ज्ञानपीठ, साहित्य अकादेमी जैसी संस्थाओं के पुरस्कार-विजेताओं की रचनाओं का सबसे पहले सारी भारतीय भाषाओं में अनुवाद होना चाहिए।

अखिलन जी ने चर्चा चलाई कि जहां-जहां लेखक-संगठन हैं वहां-वहां अन्य प्रदेश के

लेखकों को बुलाने की व्यवस्था की जाती है। परन्तु, जहां ऐसे संगठन नहीं हैं वहां उनके अपने क्षेत्र के लेखकों का सत्कार करने में ही समस्याएं खड़ी होती हैं। अतः सत्कार-कार्यक्रम का स्वागत तो है पर समन्वय बढ़ाने में इनसे विशेष मदद नहीं मिलेगी।

गोविन्दन जी ने कहा कि मलयालम-भाषी क्षेत्र में हिन्दी-भाषी विद्वानों का भारी संख्या में अच्छा सत्कार हो रहा है पर ऐसा ही हिन्दी-भाषी क्षेत्र में नहीं हो रहा है। डा० राघवन् ने कहा कि अहिन्दी-भाषी विद्वानों के सत्कार की बात आम तौर पर बताई जाती है। परन्तु इससे संबंधित आंकड़े प्राप्त होने चाहिए। कुछ थोड़े-से लोगों को यों ही चुन लेने से काम नहीं चलता। अहिन्दी-भाषी विद्वानों को चुनने वाली कौन-सी समितियां हैं?

अंतिम प्रश्न के बारे में डा० राघवन् ने कहा कि उत्तर भारत के विश्वविद्यालयों में दक्षिण भारतीय भाषाएं व साहित्य सीखने की योजना नाममात्र को है। यदि सरकार और विश्वविद्यालय अनुदान आयोग हिन्दी के प्रसार और प्रतिपादन के लिए निधि खर्च कर सकते हैं तो क्यों नहीं वे सारे उत्तर भारत में दक्षिणी भाषाओं और साहित्य के प्रतिपादन के लिए निधि ख़र्च करते? गोविन्दन जी ने कहा कि किसी भी भाषा की कट्टरपंथिता भारत के एक राष्ट्र के रूप में विकसित और पुष्पित होने में हानिकारक सिद्ध होगी।

पद्मराजु जी ने कहा कि यह तो लेने व देने की बात है। यदि हिन्दी-भाषी यह अभिरुचि दर्शायेंगे कि अन्य भारतीय भाषाओं में क्या हो रहा है तो हिन्दी सीखने के लिए क्षेत्रीय दलों में घुमड़ने वाले विरोध पर काबू पाने में सहायता प्राप्त होगी। विभिन्न क्षेत्रों के साहित्यकारों में यह धारणा है कि अन्य भाषाओं और साहित्यों के बारे में जानकारी ले-देकर जैसे हिन्दी-भाषी उनपर मेहरबानी करते हैं। अखिलन जी का सुझाव है कि 'रीडर्स डाइजेस्ट' की तरह एक पत्रिका का हमें प्रकाशन करना चाहिए और सभी भारतीय भाषाओं में इसका एकसाथ प्रकाशन होना चाहिए। आर्थिक दृष्टि से भी यह योजना संभव है। इसमें प्रायः सभी भाषाओं की महत्त्वपूर्ण रचनाओं का प्रकाशन होना चाहिए। अन्य सभी भारतीय भाषाओं के भावों के मुक्त प्रवाह के लिए यह एक ठोस क़दम होगा।

सबों की चर्चाएं, मत और सुझावों को प्रस्तुत करते हुए मुझे यही लगता है कि मिलनोन्मुखी भाषा व साहित्य की धाराओं के बीच-बीच कट्टरपंथी, संकुचित और श्रेष्ठता-ग्रंथि के जो छोटे-छोटे बुद्बुद द्वीपों का रूप धारण कर रहे हैं, उन्हें हटाने में हर किसीको अपना-अपना योगदान देना होगा। भारतीय लेखक की यह प्रमुख ज़िम्मेदारी होनी चाहिए। उत्तर और दक्षिण का सवाल नहीं, ये तो भौगोलिक घेरे मात्र हैं। □

आप और मैं

प्रेमचन्दजी को कभी भी क्रोध नहीं आता था, पर एक बार एक व्यक्ति पर वे क्रोधित हो उठे और बोले—"क्या कहूं, मैं तो आपको भला आदमी समझ रहा था, लेकिन आज……।"

वह व्यक्ति बीच में ही बोल उठा—"जी, मेरी भी धारणा आपके प्रति कुछ ऐसी ही थी।" कुछ क्षण तक चुप रहकर प्रेमचन्दजी ने व्यंग्य-भरे शब्दों में कहा—"सच पूछिए तो आपकी ही धारणा सच निकली, मैं ही धोखे में था।"

भारतीय मनीषा के प्रेरक श्रीराम की यात्रा—वाल्मीकि से तुलसी तक

लल्लनप्रसाद व्यास

□ □

भारत तथा भारतवंशी बहुल-देश मोरिशस, फिजी, सूरीनाम, ट्रिनिडाड, गियाना जैसे देशों के साथ-साथ दक्षिण-पूर्व एशिया और सुदूरपूर्व सहित विश्व के अनेक देशों में राम और रामायण की जैसी लोकप्रियता है, उसे देखते हुए यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि राम विश्व के सबसे बड़े आदर्श नायक और रामायण विश्व का सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि राम और रामकथा का महत्त्व युग-युगों तक है और वर्तमान परिप्रेक्ष्य में इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि राम का नायकत्व राष्ट्रीयता और क्षेत्रीयता की सीमाओं को लांघकर विश्वव्यापी बन गया है और रामायण जाति, धर्म, सम्प्रदाय आदि की सतह से कहीं ऊपर पहुंच गयी है। चाहे बौद्ध देश थाईलैण्ड, लाओस या कम्बोडिया हों या मुस्लिम देश इण्डोनेशिया और मलयेशिया हों या साम्यवादी देश रूस, चेकोस्लोवाकिया आदि हों, रामायण का महत्त्व इन देशों के सांस्कृतिक जीवन में विद्यमान है और उसमें दिन-प्रतिदिन अभिवृद्धि हो रही है। इन देशों में राम और रामकथा की लोकप्रियता इस सीमा तक पहुंच गयी है कि इण्डोनेशिया, थाईलैण्ड आदि देशों के अधिकांश लोग यही मानते हैं कि राम उनके देश में हुए और रामकथा उनकी धरती पर लिखी गयी। मोरिशस, फिजी आदि में भारतवंशी व्यक्तित्व की रक्षा ही रामायण के कारण सम्भव हो सकी। इतना ही नहीं, बल्कि कालचक्र की क्रूर गति से भारत की रक्षा भी यदि सम्भव हो सकी तो उसके पीछे भी शायद सबसे बड़ी भूमिका रामायण और राम की है। इकबाल ने यह लिखकर "कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी" जो महत्त्वपूर्ण संकेत किया है, उसमें भी इसी भूमिका की सम्भावना स्पष्ट है।

वस्तुतः राम भारत की अमरता का दूसरा नाम है। इस संदर्भ में राम कोई व्यक्ति-विशेष नहीं, बल्कि भारत के कुछ जीवनमूल्य हैं, युगों से चले आ रहे हमारे आदर्श हैं। इन मूल्यों और आदर्शों की दृढ़ता ही राम के जीवन की दृढ़ता के माध्यम से व्यक्त हुई है।

इस संबंध में सबसे अधिक महत्त्व की बात तो यह है कि रामकथा का आदिस्रोत वाल्मीकीय रामायण भारत के स्वर्णकाल में लिखी गयी। किन्तु आज से केवल चार शताब्दी पूर्व रचित 'रामचरितमानस' तक की रामकथा-यात्रा भारतीय जीवन की न जाने कितनी धूप-छांव और सर्दी-गर्मी के बीच अजानी और अंधकारमय पगडंडियों से गुज़री है। इस बीच भारतीय जीवन भी आशा-निराशा के न जाने कितने दौरों से गुज़रा है। मानस की रचना का काल भारत के इतिहास का परतंत्रता का काल है, जब यहां जनमानस हीनता, निराशा और अंधकार से भर उठा था। आधुनिक इतिहासकारों ने भले ही उस काल को कितना ही अच्छा बताया हो, किन्तु

'पराधीन सपनेहु सुख नाहीं' वाली मानस की वाणी वस्तुतः तत्कालीन भारतीय जनमानस की अभिव्यक्ति ही थी। भारतीय अस्मिता, स्वाभिमान और स्वतंत्रता के ऐसे संकट में तुलसी ने रामकथा की विकास-यात्रा को उत्कर्ष के चरम-बिन्दु तक पहुंचाया, जिसने भारतीय जाति और देश को परीक्षा की कठिनतम घड़ियों में आवश्यक धैर्य धारण करते हुए अपने को जीवित रखने का संबल दिया और वह जीवन-दर्शन भी दिया जो जाति और राष्ट्र को किसी बड़े आदर्श या ध्येय के लिए न केवल जीवित रहने, बल्कि सतत विकास की ओर बढ़ने की प्रेरणा देती है। तुलसी के राम ने जीवन के कठिनतम संघर्षों से जूझते हुए अपने आदर्श और मर्यादा की रक्षा के लिए जो कुछ किया, वही आगे चलकर भारतीय स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करने की प्रेरणा बन गया। महात्मा गांधी तक आते-आते देश ने स्वतंत्रता-संघर्ष में 'रघुपति राघव राजाराम' को अपना सबसे बड़ा सम्बल बनाया और स्वतंत्रता की लड़ाई सफलतापूर्वक जीत ली। भारतीय जीवन और राम का कुछ ऐसा अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है कि जब वह राम से अभिन्न और अटूट रहता है, तब तो वह सफल होता है और जहां उससे दूर जाता है, वहीं अपने लिए समस्याएं उत्पन्न कर लेता है। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद की अनेक निराशाजनक परिस्थितियों को इस परिप्रेक्ष्य में देखकर उनके सहज उपलब्ध समाधान को पुनः अपनाया जाय तो श्रेयस्कर होगा। इसीलिए यह कहा जाता है कि वाल्मीकि रामकथा की गंगोत्री है, जिसकी धारा महाकवि तुलसी तक आते-आते इतना विशाल और विराट स्वरूप धारण कर लेती है कि सम्पूर्ण मानवमात्र उसमें अवगाहन कर सके। अतएव सन्त कवि नाभादास की यह उक्ति ठीक ही है—'वालमीकि तुलसी भयो।'

वाल्मीकि से तुलसी तक की राम की विकास-यात्रा से भारत के सांस्कृतिक जीवन का एक और सत्य उद्‌घाटित होता है और वह यह कि इस धरती पर चली आ रही व्यास और वाल्मीकि की परम्परा के कवि मनीषियों ने वस्तुतः अपनी साधना और तपस्या से युक्त दर्पण में राम के जीवन-प्रसंगों को देखा और उन्हें अभिव्यक्ति प्रदान की। इस सात्त्विक सत्य के प्रकाश में यदि भारत के विभिन्न रामायण-रचयिताओं के जीवन को देखा जाए तो उक्त सत्य स्वयं सिद्ध हो जाता है। इस संबंध में भी भारतीय जीवन की एक अन्योन्याश्रित धारा सदा प्रवाहित रही है, जिसके अन्तर्गत राम ने भारतीय मनीषा और साधनायुक्त जीवन को प्रेरित और प्रभावित किया है तथा दूसरी ओर उसने राम-जीवन के चित्र में सतत ऐसे रंग भरे हैं जो इसे उत्कृष्ट से उत्कृष्ट-तम बनाता चला गया। इस चित्र में समय-समय पर मानव-जीवन के आदर्श, मर्यादा, कर्तव्य आदि के ऐसे अमिट रंग भरे गये, जिससे राम का यह चित्र समस्त भव्यता और विराटता की गौरव-गरिमा से मंडित हो गया। वस्तुतः राम का यह चित्र भारत का चित्र है। उसकी अव्यक्त और सूक्ष्म अमरता की अभिव्यक्ति है। इस प्रकार राम भारत है और भारत राम है, सूक्ष्म में दोनों एक-दूसरे के पर्यायवाची ही हैं।

राम भगवान थे या नहीं, यह विवाद तो भारत में सदैव रहा है, किन्तु इसके साथ ही यह विवाद भी मौजूद रहा है कि राम इतिहास-पुरुष भी थे या नहीं। इन विवादों के संदर्भ में पक्ष और विपक्ष के मत सदैव सामने आते रहे हैं। किन्तु मजे की बात यह है कि नास्तिकों और आस्तिकों के इस विवाद और इतिहासकारों और बुद्धिजीवियों की नोंक-झोंक के बावजूद राम मानव-मूल्यों के सबसे बड़े अधिष्ठाता और आदर्श बन गये और रामकथा जीवन के शाश्वत मूल्यों के लिए सफल संघर्ष की महान कथा बन गयी।

इतना ही नहीं, बल्कि राम धार्मिक निष्ठा और आस्थाओं के ऐसे सम्बल बन गए जिसका सहारा लेकर धर्मपरायण मानव जीवन की सबसे बड़ी सिद्धि और सार्थकता 'मुक्ति' की कामना करता है और राम का नाम लेकर ही इस लोक से विदा होना चाहता है। इस कामना की पूर्ति

सरल नहीं है। तुलसीदासजी स्वयं कहते हैं 'जनम-जनम मुनि जतन कराहीं' फिर भी अंत समय में मुख से राम नाम नहीं निकल पाता। किन्तु गांधी जैसे आस्थावान महात्मा ने गोली लगने के बाद भी 'हे राम' ही उच्चारित किया। महात्मा गांधी की यह आस्था इतनी अटूट थी कि उन्होंने अपने जीवन-काल में यह विश्वास व्यक्त किया था कि अन्त समय में उनके मुख से राम नाम ही निकलेगा। अतएव राम के अस्तित्व को नकारने या स्वीकारने या उनके भगवान या असाधारण मानव-सम्बन्धी विवादों पर बुद्धि-विलास करने वाले बुद्धिजीवियों की निरर्थक चर्चाओं के बावजूद भारत की कोटि-कोटि जनता युगों से राम को अपने जीवन की प्रकाशपुंज मानती है और जीवन के उस पार राम-लोक की यात्रा अपने जीवन की सिद्धि समझती है। वे राम के साथ जीते हैं और राम के साथ ही मरते हैं। बौद्धिक विवादों का न तो कभी उन पर प्रभाव पड़ा है और न पड़ेगा। वे राम के सम्बन्ध में 'संशयात्मा विनश्यतिः' के सिद्धान्त को मानते हैं। भारत के कोटि-कोटिजन के लिए राम संशय और संदेहों के धरातल से बहुत ऊंचे सिंहासन पर विराजमान हैं।

राम रूढ़ि और अंधविश्वासों से भी बहुत ऊपर हैं। सच तो यह है कि संसार में हमारा प्राचीनतम धर्म होने के कारण इसके प्रवाह में समय-समय पर रूढ़ियों और अंधविश्वासों की जो काई जमने लगती है, उसके लिए भी राम सहायक हैं। उनके जीवन के आदर्श-कर्तव्य और मूल्य धर्म के सच्चे स्वरूप को निरूपित करते हैं, अतएव यदि कोई यह पूछे कि हमारे धर्म का जीता-जागता स्वरूप क्या है, तो हम निःसंदेह राम के जीवन को कह सकते हैं। अतएव राम राष्ट्रधर्म के भी प्रतीक हैं।

मानव-जीवन की धूप-छांव, उतार-चढ़ाव, संघर्षों और विडम्बनाओं की कथा ही रामकथा है। यह कथा हर युग में एक जैसी चलती रहती है। हर युग में राम को राजा बनते-बनते वनवास मिला, सीता का हरण हुआ, रावण से युद्ध हुआ, सती सीता पर संदेह किया गया, राम राजा होते हुए भी अकेले रहे। उनका रामत्व अन्दर ही अन्दर सदैव अश्रुसागर में तैरता रहा। मानव-जीवन का यही सतत संघर्ष रामकथा बन गयी और उन संघर्षों की आंधी और तूफान को झेलता हुआ विपरीत परिस्थितियों से लड़ता हुआ, किन्तु अपने जीवन-मूल्यों पर स्थिर रहने वाला राम बन गया। नवों रस से गुज़रती हुई यह कथा एक ही रस करुणा में आकर परिवर्तित होती है जो रामकथा को अमरता प्रदान करती है—ऐसी अमरता जो संसार का समस्त विषपान करने पर भी मनुष्य को जिन्दा रखने में समर्थ है। दूसरे शब्दों में राम टूटते-गिरते मानव की एक सबल बैसाखी हैं। वे जीवन की समग्रता के परिचायक हैं, उस समग्रता के जो जीवन के सुख-दुख, संयोग-वियोग, सफलता-असफलता आदि परस्पर विरोधी तत्त्वों से बनती है और जिसमें सम भाव की अपेक्षा की जाती है। इस प्रकार राम जहां एक ओर समग्रता के परिचायक हैं वहां रामकथा मानव-जीवन की समस्त समस्याओं का समाधान है। आवश्यकता होती है इस समाधान को समझने की और फिर तदनुकूल आचरण की।

समस्त संघर्षों पर विजय के बावजूद राम अकेले हैं और शायद यही अकेलापन जीवन का एक सत्य है या राम बनने का मूल्य, ऐसा मूल्य जिसका अर्थ है अपने सर्वस्व का होम अपने आदर्शों के लिए। यह बहुत दुष्कर है और बहुत दुर्लभ भी है। इसलिए हम कह उठते हैं कि सब राम नहीं बन सकते। फिर भी, यह देश तो राम का ही है। यहां पूजा तो राम की ही होती है। यह केवल पौराणिक कल्पना नहीं, बल्कि इस युग में महात्मा गांधी के माध्यम से भी यही सत्य प्रकट हुआ है। यह सत्य तो हर युग में प्रकट हुआ है, किन्तु गांधी की बात ज़्यादा युक्तिसंगत लग सकती है, क्योंकि वे अभी कुछ वर्ष पहले तक हमारे बीच थे।

तो जहां उपर्युक्त सत्य प्रकट होता है, वहां सृष्टि का एक और अप्रिय सत्य भी सामने आता है कि यहां कोई भी निर्विवाद नहीं है। गांधी भी नहीं, राम भी नहीं, और यहां तक कि भगवान भी नहीं। अग्नि-परीक्षा में खरी उतरने पर भी सीता पर लांछन लगता है और राम को अपनी पत्नी के सतीत्व पर पूर्ण विश्वास होते हुए उसे सतीत्वहीनता के आरोप में निर्वासित करना पड़ता है। सम्पूर्ण वेदना और करुणा से परिपूर्ण मानव-जीवन की इससे बड़ी कर्तव्य-परायणता और क्या हो सकती है ! कर्तव्य की यही अति सीमा राम पर उल्टे लांछन बन गयी, किन्तु वे तो राम ही थे। राम के समग्र व्यक्तित्व को समझने की पात्रता भी सबके बस की बात नहीं है।

रामकथा विश्व की महानतम कथा क्यों बन गयी ? क्या इसलिए कि उसमें कथातत्त्व बहुत सशक्त है या उसमें साहित्य के अन्य अनेक महत्त्वपूर्ण गुण हैं ? वस्तुतः बात कुछ और है और वह जीवन का और भी बड़ा सत्य है कि मनुष्य के जीवन की साधना, सरलता, सात्त्विकता आदि तत्त्व जितने प्रबल होते हैं, उसके यश की आयु उसी सीमा तक बनती है। राम में मानव-जीवन के श्रेष्ठ और उदात्त गुण इतनी असीमित मात्रा में उपलब्ध हुए जिन्हें धारण करके मनुष्य भगवान की श्रेणी में पहुंचता है। यही कारण है कि उनकी जीवन-गाथा अमर बन गयी।

भारत की बात कुछ और भी विशेष है। राम जैसे जीवन का अस्तित्व इसी देश में सम्भव था, जहां एक ओर महासागर की गहराई है और दूसरी ओर हिमालय की सबसे बड़ी ऊंचाई। यहां की धरती से उत्पन्न राम का जीवन ही इस गहराई और ऊंचाई को एकसाथ ग्रहण कर सकता था। व्यक्तित्व में सागर-सी गम्भीरता और हिमालय-सी गरिमा भारत में ही सम्भव है। इसी-लिए विश्व की महानतम गाथा की देन भारत से ही सम्भव हुई।

राम में निहित उदात्त मानव-जीवन-मूल्य शाश्वत हैं। उनका जितना महत्त्व सहस्र वर्ष पूर्व था, उतना ही आज है। आज का जो संघर्षशील मनुष्य टूटता जा रहा है, उसको टूटने से बचाने के लिए राम ही सबसे बड़ा भावात्मक सम्बल है, क्योंकि यह सारा द्वन्द्व भावात्मक है, इसीलिए अवलम्ब भी भावात्मक ही चाहिए। राम जीवन की श्रेष्ठता और उत्कृष्टता के उच्चतम मान-दण्ड हैं जिनकी प्राप्ति के लिए मानव-जीवन के प्रयास भी शाश्वत हैं। इसलिए राम-जीवन में जितना पुरातन का बोध होता है, उतना ही आधुनिकता का भी। राम चिर पुरातन हैं और चिर नवीन भी। सुदूर बिन्दुओं का ऐसा एकीकरण तथा समन्वय अन्यत्र दुर्लभ है। इस समन्वय का दर्शन आज का सबसे बड़ा आधुनिकता-बोध है। □

प्रमाण-पत्र

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर के पास तरह-तरह के व्यापारी आया करते थे और अपनी चीज़ों के नमूने उपहार देकर उनसे प्रमाण-पत्र लिखा ले जाया करते थे। प्रमाण-पत्र का यह सामूहिक वितरण देखकर रवि बाबू के निजी सचिव ने कहा, "सरकार, यदि आप ऐसा कीजिएगा तो संसार में ऐसी कोई भी चीज़ न बचेगी, जिसके पक्ष में आपका प्रमाण-पत्र न हो जाय।"

रवि बाबू थोड़ी देर तक मौन रहे, फिर गंभीर होकर बोले, "बात तो ठीक है, पर संसार की एक चीज़ है, जिसके लिए मैं कभी भी प्रमाण-पत्र न दूंगा।"

निजी सचिव की उत्सुकता बढ़ीं और प्रश्न की मुद्रा में रवि बाबू की ओर देखने लगे। रवि बाबू अपनी लंबी दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए बोले, "रेज़र ब्लेड की कम्पनियों को मैं कभी भी प्रमाण-पत्र न दूंगा।"

पाल और विर्जिनी

अठारहवीं शताब्दी में प्रकाशित बेरनार्दे दे सें प्येर के फ्रेंच उपन्यास का संक्षिप्त रूपांतर श्री गंगादत्त शर्मा द्वारा

□□

आज से 200 साल पहले की बात है। जहां आज पोर लुई बसा है उसके पीछे पहाड़ों की जो चोटियां दिखाई देती हैं, तब वहां भारी जंगल था। उस जंगल में सभ्य समाज की सताई मारग्रेट नाम की एक अभागिन अंग्रेज़ महिला अपने दुधमुंहे बच्चे के साथ रहती थी। उसके पास एक हब्शी दास था जिसका नाम था डोमिंगो। संयोग की बात, उसी जैसी अभागिन एक फ्रेंच महिला अपने दास को लेकर मारग्रेट के ही पड़ोस में बस गयी थी। इसका नाम था श्रीमती देलातुर। यह गर्भवती थी। इसका पति थोड़े दिन पहले चल बसा था।

एक दिन श्रीमती देलातुर अपने दास को लेकर मारग्रेट के पास आयी। मारग्रेट उस समय अपने बच्चे को दूध पिला रही थी। निर्जन एकांत में अतिथि को पाकर मारग्रेट बहुत प्रसन्न हुई। एक-दूसरे की विपदा-भरी कहानी सुनकर दोनों ने एक साथ रहने का निश्चय कर लिया। एक से दो भले।

कुछ दिनों बाद मारग्रेट ने श्रीमती देलातुर के लिए अपने घर से थोड़ी ही दूर एक सुन्दर-सी कुटिया बनवा दी। कुटिया बनकर तैयार हुई ही थी कि श्रीमती देलातुर ने एक कन्या को जन्म दिया। निर्जन जंगल में बसे मित्र परिवार में खुशी की लहर आ गयी। मारग्रेट के बेटे का नाम था पाल और इस कन्या का नाम रखा गया विर्जिनी।

पाल और विर्जिनी में मुश्किल से एक साल की छोटाई-बड़ाई थी। दोनों बालक निर्जन जंगल में खिले दो फूल थे। माताएं इन्हें देखकर अपना पिछला दुःख भूल जाती थीं। एक दयालु परिचित पादरी भी जब-तब आकर उन्हें अतिथि-सत्कार का आनन्द दे जाता था। मारग्रेट का दास डोमिंगो और उसकी पत्नी मारी दोनों महिलाओं की ज़मीन की देख-भाल करते थे। दोनों की गोद में दो फूल-से बच्चे, ईमानदार सेवक और दयालु मित्र की संगति, इस समय उनपर प्रभु की असीम कृपा थी।

पाल और विर्जिनी दिन-दिन बड़े होने लगे। दोनों माताएं उनकी बाल-क्रीड़ाओं को देखकर आनन्द के सागर में गोते लगाने लगती थीं। दोनों साथ-साथ खाते-पीते, साथ-साथ खेलते और एक-दूसरे के गले में बांहें डाले सो जाते। डोमिंगो और मारी भी उन्हें बहुत प्यार करते थे।

पाल और विर्जिनी कुछ बड़े हुए तो पास ही जंगल में खेलने निकल जाते। वहां तरह-तरह के फूल चुनते और एक-दूसरे को भेंट करते। मन होता तो किसी सोते में नहाने उतर जाते। जंगल में उनके मनोरंजन की चीज़ों की कोई कमी नहीं थी। सारा जंगल उनका था जिसमें दोनों बच्चे आज़ाद पंछियों की तरह इधर से उधर फुदकते रहते थे।

समय बीतते देर नहीं लगती, पाल और विर्जिनी अब किशोर अवस्था की दहलीज़ पर पहुंच गये। दोनों की जोड़ी अद्भुत थी—पाल लम्बा और मजबूत, रंग धूप से कुछ पका और विर्जिनी गौर वर्ण की एक सुन्दर छरहरी, स्वस्थ किशोरी। दोनों ने न पढ़ना सीखा न लिखना। पर प्रकृति ने ही उन्हें सब कुछ सिखा दिया था। प्रकृति की गोद में पले थे, सो संसारी छल-कपट तो उन्हें छू तक नहीं गया था। जंगल की स्वच्छ वायु ने और सादे, पौष्टिक तथा ताज़ा भोजन ने उन्हें अद्भुत स्वास्थ्य प्रदान कर दिया था। स्वास्थ्य ने उन्हें तन और मन की सुन्दरता प्रदान कर दी थी। सबसे बढ़कर बात तो यह थी कि अब दोनों एक-दूसरे को बहुत चाहने लगे थे। पाल सदा विर्जिनी की भावनाओं का आदर करता था। विर्जिनी भी पाल के हर कार्य की सराहना करती थी। दोनों एक मन, दो शरीर थे।

पाल के पास सेण्ट पाल की एक छोटी-सी तस्वीर थी। विर्जिनी ने वह तस्वीर मांगी तो पाल ने बड़ी प्रसन्नता से दे दी। विर्जिनी पाल की उदारता पर मुग्ध हो गयी और पाल उसकी निश्छलता और अपनेपन पर। इससे वे एक-दूसरे के और नज़दीक आ गये।

विर्जिनी बड़े ही कोमल हृदय की बालिका थी। एक बार एक भगोड़ी दासी उसकी कुटिया में आयी। वह बहुत भूखी थी। उसकी दुर्दशा देखकर विर्जिनी ने उसे खाना खिलाया। फिर पाल को साथ लेकर उस भगोड़ी दासी के निर्दयी मालिक के पास पहुंची और उससे प्रार्थना की कि वह उसे माफ कर दे। वापसी में दोनों बच्चे रास्ता भूल गये और वन में भटकते रहे। वह तो डोमिंगो ने स्वामी-भक्त नामक कुत्ते की सहायता से उन्हें खोज निकाला, वरना रात में उन पर बुरी बीतती। रास्ते में उन्हें कुछ हब्शी मिल गये। वे विर्जिनी की दयालुता से बहुत प्रभावित थे। उन्होंने दोनों बच्चों को डोली में बैठाकर उनके निवास-स्थान तक पहुंचा दिया।

सबै दिन होत न एक समान, इस मित्र परिवार के सुख के दिन समाप्त हो गये और उन पर विपत्ति के बादल छा गये।

बात यह हुई श्रीमती देलातुर की चाची फ्रांस में रहती थी, वह बहुत धनी महिला थी। धनी होने के साथ-साथ वह बहुत ही अभिमानी थी। इसलिए न उसने किसी से विवाह किया न किसी ने उससे। यह महिला अपनी भतीजी से बहुत नाराज़ थी क्योंकि उसने एक साधारण-से व्यक्ति के साथ प्रेम-विवाह कर अपने पितृकुल की इज्ज़त को बट्टा लगाया था। उसे किसी तरह मालूम हो गया कि उसकी भतीजी मोरिशस में है और विधवा हो गयी है तथा उसके एक लड़की भी है। सो, उसने अपनी भतीजी के पास एक पत्र भेजा कि वह अपनी लड़की के भविष्य को ध्यान में रखकर उसे फ्रांस भेज दे।

चाची के पत्र ने श्रीमती देलातुर के मन में खलबली मचा दी। वह नहीं चाहती थी कि उसकी लड़की जीवन-भर कष्ट उठाये। फ्रांस जाने से उसका भाग्य परिवर्तित हो जाएगा, उसे अपनी नानी का अतुल धन मिलेगा, वह सुख-पूर्वक जीवन व्यतीत करेगी, इस लोभ ने श्रीमती देलातुर को अन्धा कर दिया। वह भूल गयी कि पाल और विर्जिनी एक-दूसरे को बहुत चाहते हैं। तथा बालकपन में प्यार का जो बीज दोनों के हृदयों में जम चुका था, वह अब बहुत बड़ा वृक्ष बन चुका है। वह जंगल के निष्पाप और श्रमपूर्ण स्वच्छन्द जीवन की महिमा को भी भूल गयी और फ्रांस की चमक-दमक से अन्धी हो गयी। वैभव की चकाचौंध में सादा जीवन का महत्त्व खो गया। उसने विर्जिनी को फ्रांस भेजने का फैसला कर लिया। यह जानकर मारग्रेट को भारी दुःख हुआ और पाल का तो दिल ही टूट गया। विर्जिनी के वियोग की कल्पना मात्र से ही वह विक्षिप्त हो गया।

और, एक दिन पाल के स्मृतिचिह्न सेण्ट पाल की तस्वीर को हृदय से लगाए हुए और

प्यारे पाल की याद को दिल में बसाये हुए भारी मन और आंसू भरे नेत्रों से विर्जिनी चल दी फ्रांस की ओर। तब रात के तीन बजे का समय था। सुबह पाल को ज्ञात हुआ तो वह असीम दुःख और क्रोध के मारे विक्षिप्त-सा दौड़ चला समुद्र-तट की ओर। परन्तु, जहाज़ समुद्र में तीस मील जा चुका था। उसने अपना माथा पीट लिया। वह अपनी प्रिय विर्जिनी से मिल भी न सका। उसे लगा कि उसकी प्यारी विर्जिनी उसे छोड़कर चली गयी। अब वह संसार का सबसे दुःखी प्राणी था।

पर, क्या विर्जिनी सचमुच लोभ के वशीभूत हो उसे छोड़कर चली गयी थी?

इसके बाद की कहानी पाल और विर्जिनी के दुर्भाग्य की कहानी है। उनके दुर्भाग्य ने ही उनकी प्रेमकथा को अमर बना दिया।

विर्जिनी फ्रांस पहुंची तो वह फ्रांस के वैभव को देखकर चकाचौंध में पड़ गयी। उसकी नानी ने उसके साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया। बात-बात पर उसे झिड़कियां मिलतीं। उसे याद दिलाया जाता कि वह जंगली है, गंवार है, असभ्य है आदि-आदि। जंगल की हिरनी राजोद्यान में कैद होकर सारी चपलता भूल गयी। विर्जिनी को अपना घर याद आया, ममता की मूर्ति मां, चाची मारग्रेट, डोमिंगो और उसकी पत्नी मारी तथा स्वामीभक्त कुत्ता याद आये। और उसे याद आया अपने बचपन का साथी पाल—उसके सपनों का राजकुमार जो उसकी सांसों में बस गया था।

विर्जिनी को अपने मन के अनुकूल न पाकर उसकी अभिमानी नानी ने उसे वापस मोरिशस भेज दिया। विर्जिनी की इच्छा पूरी हुई। उसका मन-मयूर नाच उठा। उसका मन होता था कि वह उड़कर मोरिशस जा पहुंचे। परन्तु, दुर्भाग्य मानो हाथ धोकर उसके पीछे पड़ गया था। वह मोरिशस पहुंचकर भी अपने घर न पहुंच सकी। पहुंची तो उसकी लाश पहुंची और उसके साथ ही दोनों परिवारों की सारी खुशियां भी सदा के लिए समाप्त हो गयीं।

बात यह हुई कि जहाज़ पर विर्जिनी आ रही थी, वह मोरिशस से कोई बारह मील की दूरी पर ही था कि समुद्र में भयानक तूफ़ान आ गया। कप्तान ने तोपें दागकर सहायता मांगी परन्तु तूफ़ान की भयंकरता ने बचाव की सारी आशाओं पर पानी फेर दिया।

हां, जब पाल को पता चला तो वह उफनते समुद्र में उतर गया। उसने बार-बार जहाज़ के समीप पहुंचने का प्रयत्न किया पर लहरों ने बार-बार उसे तट पर फेंक दिया। वह लहूलुहान हो गया था पर फिर भी समुद्र में उतर गया। आखिर लहरों ने उसे बेहोशी की हालत में किनारे पर ला पटका।

तूफ़ान की भयंकरता के सामने जहाज़ की एक न चली। वह डूब गया। यात्री डूब गये। और उनके साथ विर्जिनी भी समुद्र की भेंट चढ़ गयी।

समुद्र शान्त हुआ तो लोगों को पता चला कि विर्जिनी का शरीर समुद्र-तट पर बालू में धंसा पड़ा है। परिवार के लोग वहां गये। उन्होंने देखा कि अपने प्रिय बाल्य साथी के दिये हुए स्मृतिचिह्न को मुट्ठी में मजबूती से दबाए विर्जिनी शान्त भाव से आंखें बन्द किये लेटी हुई है। पत्थर भी इस दृश्य को देखकर पिघल जाता, लोगों की आंखों के सोते फूट पड़े। यह निष्कलंक प्रेम की बलि थी। लोगों ने बड़े आदर के साथ उसे पाम्पलेमूस के क़ब्रिस्तान में धरती मां को सौंप दिया।

पाल ने सब कुछ देखा, सब कुछ सहा पर वह अपनी प्यारी विर्जिनी का वियोग अधिक दिन तक न सह सका और एक दिन वहां चला गया जहां विर्जिनी उसकी प्रतीक्षा कर रही थी। उसे विर्जिनी की क़ब्र की बग़ल में ही दफ़न किया गया ताकि उनकी मिट्टी के कण एक-दूसरे का अनन्तकाल तक आलिंगन करते रहें।

विश्व के नवजागरण की भाषा

डा० कर्णसिंह

□ □

मुझे याद आ रहा है विश्व का प्राचीन इतिहास, वे प्राचीन संस्कृतियां जिन्होंने संसार को सर्व-प्रथम विश्वप्रेम का मन्त्र दिया, तपस्या और ध्यान के बल से आध्यात्मिक ज्योति को प्रज्ज्वलित किया और भक्ति तथा प्रेम का शाश्वत संदेश मानव जाति को प्रदान किया। मुझे उन संस्कृतियों की भी याद आ रही है जिन्होंने मानव को संघर्ष दिया, पाषाण-युग की निर्ममता दी। मैं सोच रहा हूं कि भारत और पूर्व के देशों ने संसार को क्या दिया—ससीम में असीम की खोज, काल-सापेक्ष में कालातीत का दर्शन, वस्तुतः यही पूर्व की आत्मा है। बुद्ध ने आज से 2500 वर्ष पूर्व मानवता को नई चेतना प्रदान की, उसी प्रकार इस युग में गांधीजी ने अहिंसा के माध्यम से विकीर्ण मानवता के हाथ में संस्कृति का एक सशक्त अस्त्र दिया। जहां एक ओर विश्व के विनाश का कुचक्र चल रहा था वहीं दूसरी ओर गांधीजी हृदय की भाषा में बता रहे थे कि मानव जाति के लिए एक और भी मार्ग है—पारस्परिक विद्वेष और कटुता के मिटाने का। दो महायुद्धों से गुजरी पश्चिम की मानवता सोच रही है कि इस ध्वंस और विनाश से तो कहीं अच्छा ईसा का प्रेम और करुणा का संदेश था। उनकी युवा पीढ़ी अनात्मवाद से पीड़ित होकर उस अमृत की खोज में भटक रही है, जो शायद उन्हें पूर्व में मिल सके।

आज प्राचीन मान्यताएं टूट रही हैं और नवीन की खोज में मानव भटक रहा है। हमारी पीढ़ी अतीत और भविष्य के मध्य में अपने व्यक्तित्व की खोज में है। आज विश्व को दो चीज़ों आवश्यकता है, एक तो मस्तिष्क विशाल हो ताकि नये तथ्य को ग्रहण करने की क्षमता उत्पन्न हो सके और दूसरे मानव हृदय नई चेतना प्रकट करने का माध्यम बन सके। भारतीय वाङ्मय का अनुशीलन करें तो लगेगा कि इन्हीं तथ्यों की अभिव्यक्ति करना सत्यद्रष्टा का उद्देश्य रहा है। उपनिषद् का अमर सन्देश है कि जीवात्मा और ब्रह्म का समन्वय ही मानव जाति का सर्वोच्च लक्ष्य है—

> **धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासानिशितं सन्धयीत।**
> **आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सौम्य विद्धि।**
> **प्रणवो धनु. शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।**
> **अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत् तन्मयो भवेत्।**

यह पृष्ठभूमि मैंने इसलिए दी कि हिन्दी भाषा के माध्यम से जगत को प्रेम, बन्धुत्व और

आध्यात्मिक नवजागरण का सन्देश ले जाने से ही उनकी विश्व-भर में प्रतिध्वनि गूंज पायेगी। यह भौतिक शक्ति और बल का संदेश नहीं है, यह तो मानवता के विभक्त हृदयों को एक-दूसरे के निकट लाने सन्देश है, हृदयों के संगम का सन्देश। हिन्दी प्रारम्भ से ही समन्वय और एकता की भाषा रही है। कबीर, नानक और जायसी, सूर, तुलसी और रहीम, मीरा, रसखान और घनानन्द, इन सब महान कवियों का उद्देश्य था जनजीवन को अध्यात्म-सूत्र से पिरोना, इन सबने अधिकांश हिन्दी का ही प्रयोग किया, क्योंकि उस समय भी यह भारत के बहुत बड़े भू-भाग की भाषा थी। उस काल के कवियों ने हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख सभी के बीच एकता और समन्वय का सन्देश दिया। उनको चाहे कटु आलोचना का सहारा लेना पड़ा हो, चाहे प्रेम की भाषा का, उद्देश्य एक ही था—धर्म, समाज और साधना के क्षेत्र में घुस आयी कुरीतियों और दम्भ का निराकरण तथा समन्वयकारी तत्त्वों की प्रतिष्ठापना। संत तुलसीदास ने अपने अमर ग्रन्थ रामचरितमानस में कहा है :—

कीरति भनिति भूति भलि सोई।
सुरसरि सम सब कहं हित होई॥

यह सर्वैक्य और समन्वय की धारा हिन्दी में निरन्तर चलती आयी और जब कभी संकट आया, जहां कहीं उसका तिरोभाव हुआ वहीं वह पुनः नये वेग से प्रस्फुटित हुई। यह विदेशी आक्रमण और विदेशियों के शासन काल में भी प्रेम और समन्वय के पथ पर ही आगे बढ़ती गयी। आधुनिक युग में इसी धारा को जहां भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने नया मोड़ दिया वहां रत्नाकर और हरिऔध, मैथिलीशरण गुप्त और जयशंकर प्रसाद, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला और सुमित्रानन्दन पंत, महादेवी वर्मा और रामधारी सिंह दिनकर तथा मुंशी प्रेमचन्द और वृन्दावन लाल वर्मा, जैनेन्द्र, यशपाल और अज्ञेय जैसे साहित्यकारों ने भी समस्त मनन-चिंतन व हृदय मंथन के अनन्तर नये युग के अनुरूप नई चेतना का स्वागत हिन्दी के माध्यम से किया। इनका संदेश भौतिक तर्क-जाल से मुक्ति और भय-संशय-जर्जर विश्व के लिए आशा का पीयूष था। एक आधुनिक कवि के शब्दों में :—

असत्य भोग-वासना, असत्य सिद्धि कामना,
मनुष्य सध्य त्याग है, मनुष्य सत्य भावना!
रुको, झुको, करो मनुष्य प्रेम की उपासना!
मिली तुम्हें न यदि दया, मिली तुम्हें न भावना।
बिनाश है मनुष्य तब समस्त ज्ञान साधना।

रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी दयानन्द सरस्वती, श्री अरविन्द और महात्मा गांधी जैसे युगद्रष्टा और निर्माताओं से हिन्दी का साहित्यकार सदा प्रभावित होता रहा है। नये लेखक और कवि भी जीवन के नये आयामों की खोज में व्यस्त हैं। उनमें आस्था की कमी झलक सकती है, पर वह नये का साकार करने की बेचैनी के फलस्वरूप ही है। वह सारी विगत मान्यताओं को ध्वस्त कर अपनी चेतना का नखशिख रूपान्तर करने में सतत प्रयत्नशील है। पश्चिम की वैज्ञानिक प्रगति और पूर्व की आध्यात्मिकता—इन दोनों के प्रति उनका मन उन्मुक्त रहा है।

आज जब हिन्दी राष्ट्रभाषा से विश्वभाषा बनने जा रही है, हिन्दी साहित्यकारों का दायित्व बहुत बढ़ जाता है। हिन्दी विश्वभाषा बनकर मानव को शान्ति, प्रेम, बन्धुत्व और नई चेतना का संदेश दे, तभी उसकी सार्थकता होगी। हिन्दी यूनेस्को की भाषा बन चुकी है और एक न एक दिन संयुक्त राष्ट्रसंघ की भाषा भी बनेगी। जनवरी, 1975 में आयोजित प्रथम हिन्दी विश्व सम्मेलन की कार्यवाही को देखकर और उसमें भाग लेने वाले प्रतिनिधियों के भाषणों को पढ़ने से स्पष्ट है कि हिन्दी के विकास की ओर विश्व का ध्यान किस तेज़ी के साथ जा रहा है। आज हिन्दी विश्व के लगभग 93 विश्वविद्यालयों में एक विषय के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी है। मोरिशस में तो 1935 से ही हिन्दी प्रचारिणी सभा स्थापित हो चुकी थी, और 1968 में आज़ादी के बाद इस देश ने हिन्दी के विकास में जो योगदान किया है उस पर हर हिन्दी भाषी को गर्व है। प्रथम विश्व हिन्दी सम्मेलन के उद्घाटन समारोह की अध्यक्षता करते हुए मोरिशस के प्रधान-मंत्री ने कहा—"हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा तो है ही, लेकिन हमारे लिए इस बात का अधिक महत्त्व है कि वह एक अंतर्राष्ट्रीय भाषा है। मोरिशस, सूरीनाम, गियाना, फ़ीजी और अफ्रीका के कई देश इस बात का मान करते हैं कि भारत की राष्ट्रभाषा को अंतर्राष्ट्रीय भाषा बनाने में उनका हाथ रहा है।" इस तथ्य पर भारत को भी बहुत गौरव है।

आज हिन्दी सभी प्रकार के विचारों की एक समर्थ वाहिनी बन चुकी है और बोलने वालों की संख्या को देखते हुए यह विश्व की चार प्रमुख भाषाओं में से एक है। इसमें अन्य भाषाओं के शब्दों को ग्रहण करने की क्षमता है। देववाणी संस्कृत के साथ तो हिन्दी का अधिक सामीप्य है, क्योंकि वह हिन्दी की ही नहीं, कई भाषाओं की जननी है। इस अवसर पर एकत्र सदस्यगण के सामने मैं यह प्रार्थना करना चाहूंगा कि जहां वे हिन्दी के प्रचार-प्रसार में अग्रसर हैं, वहां उनका संस्कृत की ओर भी ध्यान देना आवश्यक हो जाता है। इस सशक्त, सजीव भाषा के सीखने के प्रबन्ध हर उस देश में होने चाहिएं जहां हिन्दी भाषा-भाषी रहते हों। इससे हिन्दी साहित्यकारों तथा दार्शनिकों को ही लाभ नहीं होगा बल्कि हिन्दी-भाषा को समृद्ध बनाने में सहायता होगी। इसके अतिरिक्त हिन्दी तथा अन्य भाषाओं का परस्पर अनुवाद के माध्यम से सम्बन्ध बढ़ाना भी ज़रूरी है। भारत में लिखे जाने वाले हिन्दी साहित्य को अन्य देशों तक, और अन्य देशों के साहित्यकारों की हिन्दी रचनाओं को भारत तक पहुंचाना एक बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य है। इसी से हिन्दी-जगत् की आंतरिक शक्ति बढ़ेगी और हिन्दी का अंतर्राष्ट्रीय रूप अधिक निखरेगा। इसके लिए अंतर्राष्ट्रीय हिन्दी पत्रिकाओं की आवश्यकता है जो हिन्दी का सन्देश विश्व के हर उस क्षेत्र तक पहुंचाएं जहां हिन्दी-भाषी तथा हिन्दी-प्रेमी रहते हों। इसके अतिरिक्त हिन्दी प्रकाशन के अधिक विस्तार के प्रश्नों पर भी इस सम्मेलन को विचार करना होगा। भारत में साहित्य के अतिरिक्त अन्य ज्ञान और विज्ञान-सम्बन्धी विषयों पर हिन्दी के प्रकाशन बढ़ते चले जा रहे हैं, इनको अन्य देशों तक पहुंचाना बड़ा आवश्यक है।

मैं यह स्पष्ट कर दूं कि हिन्दी केवल उन व्यक्तियों तक सीमित नहीं है जिनकी वह मातृ-भाषा है। मेरी अपनी मातृभाषा डोगरी है। जैसे अंग्रेज़ी को लाखों लोग बोलते हैं जिनकी वह मातृभाषा नहीं है, वैसे ही हिन्दी भी एक अंतर्राष्ट्रीय भाषा होने के नाते प्रयुक्त होनी चाहिए। इसमें कोई जाति या धर्म का प्रश्न भी नहीं है। ऐसी भाषाएं तो समस्त मानव जाति की निधि हैं। वस्तुतः सब भाषाओं से अधिक महत्त्वपूर्ण मानव जाति तथा उसका भविष्य है, और हर भाषा की यह कसौटी है कि वह कहां तक उस भविष्य को उज्ज्वल बनाने में योगदान कर पाती है। मेरा विश्वास है कि हिन्दी इस कार्य में अग्रसर रहेगी।

हमारा यह दृढ़ संकल्प है कि हम मिलकर एक नये विश्व के निर्माण में जुट जायें—एक

ऐसे विश्व का जहां अमीरी और गरीबी; रंग और जाति के भेद सदा के लिए मिट जायेंगे, जहां मानवता ही एकमात्र बन्धुत्व की परख होगी, जहां सभी धर्म और महज़ब का समावेश होगा, जहां देशों की धनराशि भयंकर अणु युद्ध सामग्री के बजाय विकास-कार्य और बच्चों के पालन-पोषण पर लगेगी; जहां विभिन्न विचारधाराएं होते हुए भी देश एक दूसरे से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करेंगे, जहां प्रत्येक मानव के भीतर दैविक शक्ति की चिनगारी को आध्यात्मिकता के प्रज्ज्वलित प्रकाश में परिवर्तित किया जाएगा। ऐसे विश्व के निर्माण में हिन्दी-जनत् पर्याप्त योगदान कर सके—यही इस अध्यक्ष पद से मैं आशा तथा विश्वास प्रकट करना चाहता हूं। मार्ग कठिन है, तलवार की धार के समान, लेकिन यदि मानव जाति का अस्तित्व बनाए रखना है तो हमें इसी पथ पर चलना होगा—हिम्मत से, धैर्य से, आत्मविश्वास से—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति॥

(मोरिशस के द्वितीय विश्व हिन्दी सम्मेलन में अध्यक्षीय भाषण का अधिकांश)

रामतीर्थ और इकबाल

सन् 1899 में दीपावली के दिन उन्होंने सांसारिक बन्धन को त्याग कर संन्यास ले लिया तथा प्रोफेसर के पद से त्याग-पत्र दे दिया। उनका इस्तीफा देखकर सीनेट सदस्यों ने कहा कि प्रोफेसर तीर्थराम पागल हो गया है। किन्तु जब उर्दू के प्रख्यात शायर डा० सर मुहम्मद इकबाल ने सुना तब उन्होंने कहा कि अगर तीर्थराम पागल हो गया है तो मैं कहता हूं सारी दुनिया पागल हो गयी है। शायद इसी बात से प्रभावित होकर इकबाल ने अपनी प्रसिद्ध नज़्म स्वामी रामतीर्थ की रचना की। स्वामीजी के संबंध में अपने विचार व्यक्त करते हुए इकबाल ने लिखा है—

हम बगल दरिया में हैं
ऐ कतर-ए-बेताब तू,
पहले गौहर था, बना
अब गौहरे-नायाब तू,
आह खोला किस अदा से
तू ने राजे रंगो-बू,
मैं अभी तक हूं अमीरे-
इम्तियाजे-रंगो-बू।
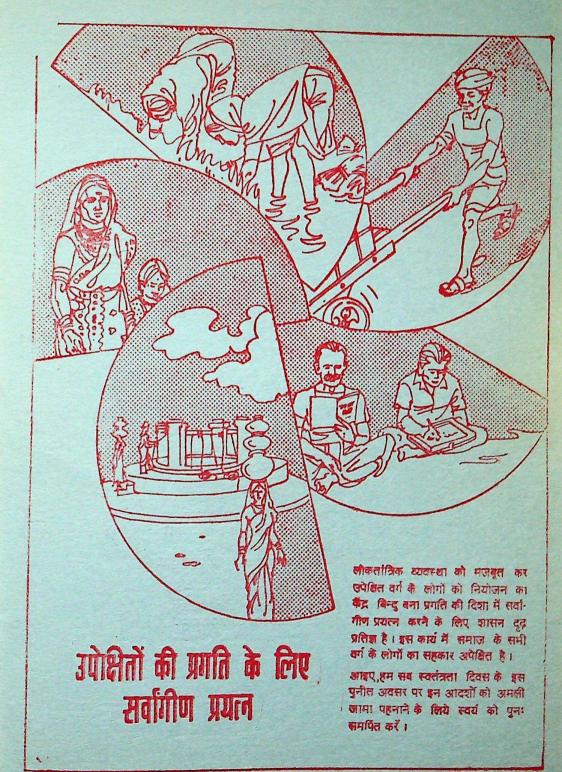
उपेक्षितों की प्रगति के लिए
सर्वांगीण प्रयत्न
लोकतांत्रिक व्यवस्था को मजबूत कर उपेक्षित वर्ग के लोगों को नियोजन का केंद्र बिन्दु बना प्रगति की दिशा में सर्वांगीण प्रयत्न करने के लिए शासन दृढ़ प्रतिज्ञ है। इस कार्य में समाज के सभी वर्ग के लोगों का सहकार अपेक्षित है।
आइए, हम सब स्वतंत्रता दिवस के इस पुनीत अवसर पर इन आदर्शों को अमली जामा पहनाने के लिये स्वयं को पुनः समर्पित करें।
सूचना और जनसंपर्क महासंचालनालय, महाराष्ट्र शासन, बंबई

।। हिन्दी—विश्व मंच पर ।।

- प्रथम विश्व हिन्दी सम्मेलन नागपुर में हिन्दी के विश्वरूप की कपल्ना की गई थी।
- मोरिशस में दूसरी बार लोगों ने हिन्दी के उस विशाल स्वरूप को देखा, जिसकी परिकल्पना कभी भारतेन्दु ने की थी।
- संयुक्त राष्ट्रसंघ में भारत सरकार के विदेश मंत्री ने पहली बार अपना पक्ष हिन्दी के माध्यम से प्रस्तुत करके राष्ट्रसंघ के विशाल सभागार में इस देश की भारती को मुखरित किया।
- हिन्दी विश्व मंच पर प्रतिष्ठित हो, यह आवश्यक है लेकिन इसी के साथ यह भी आवश्यक है कि—
- हिन्दी इस देश के घर-घर में दीपक की तरह प्रकाश फैलाये।
- इस देश की अभिव्यंजना की प्रमुख भाषा बने।
- अंग्रेजी की दासता से यह देश को मुक्त करे।
- उसके माध्यम से भारतेन्दु के शब्दों में 'भारत अपना सत्व' प्राप्त करे।

"हिन्दी का मार्ग—सहज, मध्यम मार्ग"

सूचना एवं जन सम्पर्क विभाग, उत्तर प्रदेश, द्वारा प्रसारित।

कानपुर नगर महापालिका

- उत्तर प्रदेश की प्रथम नगर महापालिका है जो कि नगर की सफाई आधुनिक यांत्रिक प्रणाली द्वारा कर रही है। नगर का लगभग सात-आठ सौ टन कूड़ा नित्य लोडरो, तथा सचल कूड़ादानों से ढोया जाता है।
- कूड़ा से कम्पोस्ट बनाने के लिए 1.06 करोड़ रुपये लागत का कम्पोस्ट प्लान्ट निर्मित किया जा रहा है जिसका उत्पादन कार्य दिसम्बर '78 से प्रारम्भ हो जायेगा। यह प्लान्ट 200 टन कम्पोस्ट नित्य उत्पादित करेगा।
- नगर की सफाई के लिए 4500 सफाई कर्मचारी, 178 सफाई नायक, तथा 54 सफाई निरीक्षक, नगर की सफाई का कार्य तीन जोनल स्वास्थ्य अधिकारियों के नियंत्रण में करते हैं।
- कानपुर नगर महापालिका प्रदेश की एकमात्र नगर महापालिका है जो एक महाविद्यालय, एक संगीत महाविद्यालय, नौ विद्यालयों का संचालन करती है।
- नागरिकों को निःशुल्क चिकित्सा सुविधा प्रदान करने के लिए महापालिका द्वारा एक जनरल अस्पताल, एक बच्चों का, तथा एक जच्चा-बच्चा का अस्पताल, एलोपैथिक 24, होम्योपैथिक 14, आयुर्वेदिक 15 औषधालय चलाये जाते हैं।

इसके अतिरिक्त मार्ग प्रकाश व्यवस्था, जल व्यवस्था तथा अन्य नागरिक सुविधाएं प्रदान करती है।

जन सम्पर्क कार्यालय, नगर महापालिका द्वारा प्रसारित

केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा

(शिक्षा मन्त्रालय, भारत सरकार)

केंद्रीय हिन्दी संस्थान, भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय द्वारा सन् 1961 में स्थापित एक अखिल भारतीय शैक्षिक पीठ है, जिसका संचालन केंद्रीय हिन्दी शिक्षण मण्डल नामक स्वायत्त संस्था करती है।

संस्थान हिन्दी भाषा तथा साहित्य में उच्च अध्ययन और अनुसंधान के अतिरिक्त भारतीयों/विदेशियों के लिए द्वितीय भाषा/विदेशी भाषा के रूप में हिन्दी सीखने और प्रशिक्षण देने के उद्देश्य से भाषा तथा साहित्य के लगभग दो दर्जन पाठ्यक्रम संचालित करता है। इनके अतिरिक्त सरकारी अधिकारियों और बैंक कर्मचारियों आदि के लिए हिन्दी सेवा माध्यम पाठ्यक्रम भी संस्थान द्वारा चलाए जाते हैं।

संस्थान विभिन्न स्तरों पर हिन्दी सीखने-सिखाने का पाठ एवं सहायक पुस्तकों के साथ-साथ हिन्दी भाषा शिक्षण और साहित्य से सम्बन्धित उच्चस्तरीय अनुसंधान ग्रंथों और शोध पत्रिका गवेषणा का प्रकाशन भी करता है। साथ ही हिन्दी उच्चारण और कविता पाठ पर टेपबद्ध सामग्री और ग्रामोफोन डिस्क भी संस्थान ने तैयार किए हैं।

आज संस्थान हिन्दी के महत्वपूर्ण अध्ययन-अध्यापन, मूलभूत अनुसंधान तथा मुख्य रूप से अनुप्रयुक्त भाषा विज्ञान और भाषा शिक्षण का राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय मान्यता प्राप्त उच्च अध्ययन केन्द्र बन चुका है। संस्थान का मुख्यालय आगरा में है तथा इसके तीन केन्द्र— दिल्ली, हैदराबाद और शिलांग में कार्य कर रहे हैं।

संस्थान के कुछ महत्वपूर्ण प्रकाशन

1. अनुसंधानपरक

1. प्रयोजनमूलक हिन्दी — 10.00
2. हिन्दी साहित्य की अधुनातन प्रवृत्तियां — 2.00
3. शैलीविज्ञान और आलोचना की नई भूमिका — 6.00
4. समसामयिकता और आधुनिक हिन्दी कविता — 6.00
5. साहित्य में बाह्य प्रभाव (द्वितीय संस्करण) अजिल्द — 10.00; सजिल्द — 15.00
6. शैली और शैली-विज्ञान — 18.50
7. हिन्दी का सामाजिक संदर्भ अजिल्द — 16.00; सजिल्द — 20.00
8. हिन्दी रूपांतरणात्मक व्याकरण के कुछ प्रकरण — 10.00
9. ए केस ग्रामर आफ हिन्दी (हिन्दी का कारक व्याकरण) — 10.00
10. हिन्दी के अव्यय वाक्यांश — 6.00
11. पाणिनी व्याकरण में प्रजनक प्रविधियां — 5.50
12. देवनागरी लेखन और हिन्दी वर्तनी व्यवस्था — 8.00
13. हिन्दी और मणिपुरी परसर्गों का तुलनात्मक अध्ययन — 6.00
14. तेलुगु और हिन्दी ध्वनियों का तुलनात्मक अध्ययन — 4.00
15. हिन्दी और तमिल की समान-स्रोतीय भिन्नार्थी शब्दावली — 6.00
16. उर्दू हिन्दी परिचय कोश — 10.00
17. समानस्रोतीय और भिन्न वर्तनी की शब्दावली ओड़िया-हिन्दी, हिन्दी-ओड़िया — 6.00
18. समानस्रोत और भिन्न वर्तनी की शब्दावली असमिया-हिन्दी, हिन्दी-असमिया — 7.00

19. भाषाविज्ञान की अधुनातन प्रवृत्तियां और द्वितीय भाषा के रूप में हिन्दी भाषा शिक्षण 6.00
20. भाषा संप्राप्ति मूल्यांकन 6.00
21. भारतीय जीवन और संस्कृति 12.00
    यू०एस०ए० $ 6.00
22. Indian Bilingualism
    Paper Back 30.00
    Hard Bound 35.00
23. Hindi Script (Self Instructional material) 7.50
    U.S.A. $ 3.00
24. Proceedings of the Fourth All-India Conference of Linguistics 40.00
    $ 20.00

पाठ्यपुस्तकें

1. पाठ गहन 5.50
2. सांचा अभ्यास शिक्षण 10.00
3. अभ्यास 5.50
4. कार्यालयीन हिंदी 7.50
5. हिन्दी की पहली पुस्तक (मिजो०) 2.00
6. हिन्दी की दूसरी पुस्तक (मिजो०) 2.00
7. हिन्दी की तीसरी पुस्तक (मिजो०) 2.00
8. हिन्दी लिपि भाग-1 1.50
9. हिन्दी लिपि भाग-2 1.50
10. हिन्दी लिपि भाग-3 1.50
11. आधुनिक निबंध संग्रह 3.75
12. आधुनिक काव्य संग्रह 7.50
13. अभ्यास पुस्तिका रा०भा०वि० 6.50
14. हिन्दी पाठमाला-1 (परीक्षण के लिए) 7.50
15. उच्चारण पुस्तिका (परीक्षण के लिए) 8.00
16. लेखन-बोधन पुस्तिका (परीक्षण के लिए) 6.50

गवेषणा (अर्द्ध वार्षिक अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान तथा भाषा शिक्षण की शोध पत्रिका)

1. अंक 1 से 30 प्रकाशित
2. अंक 9 से 12 (अप्राप्य)
3. 'गवेषणा' की एक प्रति का मूल्य 4 रु० और वार्षिक शुल्क 8 रु० है।

निःशुल्क सूची पत्र और अन्य जानकारी के लिए लिखें या संपर्क करें—

प्रकाशक प्रबंधक—

केंद्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा-282005

साहित्य अकादेमी द्वारा प्रकाशित पाश्चात्य साहित्य के अमर रत्न

1. राख और हीरे

(पोलिश उपन्यास 'पोपिओल इ दियामेन्त') येर्जी आन्द्रजेयेव्स्की के इस उपन्यास को समसामयिक पोलिश साहित्य में एक कालजयी कृती का गौरव प्राप्त है। यह असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद के पोलैंड तथा यूरोप के साहित्य से सम्बन्धित कोई भी परिकल्पना 'राख और हीरे' के बिना अधूरी ही रहेगी। अनुवादक : रघुवीर सहाय। पृष्ठ 252 (1978)। मूल्य 18.00।

2. डान क्विग्जोट

स्पेनिस क्लासिक 'डान क्विग्जोट' का स्थान विश्व के कथा-साहित्य में अप्रतिम है। इसके लेखक सरवान्तीस शेक्सपियर के समकालीन थे और इस एक उपन्यास के ही बल पर उन्होंने वह स्थान पा लिया जो अंग्रेजी साहित्य में शेक्सपियर ने पाया है। अनुवादक : छविनाथ पांडेय। पृष्ठ 514, द्वितीय संस्करण (1971)। मूल्य 11.00।

3. आथेलो

विश्व-प्रसिद्ध नाटककार शेक्सपियर की अमर कृति का स्व० दिवाकरप्रसाद विद्यार्थी द्वारा किया गया हिन्दी अनुवाद। इसको पढ़कर हम शेक्सपियर द्वारा प्रसूत इस नाटक की प्रमुख नायिका डेसडिमोना के पावनतम नारी-चरित्र की पूजा किये बिना नहीं रह सकते। पृष्ठ 140, द्वितीय संस्करण (1971)। मूल्य 3.00।

4. मौलियर के दो नाटक

व्यंग्य-प्रधान शैली में प्रहसन-प्रधान नाटक लिखने की दिशा में फ्रेंच नाटककार मौलियर का स्थान अन्यतम है। इस पुस्तक में उनकी 'तारतुफ' तथा 'ला बोर्जुआ जांतिलहोम' नामक दो व्यंग्यपूर्ण कृतियों का अनुवाद ब्रजनाथ माधव वाजपेयी ने प्रस्तुत किया है। पृष्ठ 174, द्वितीय संस्करण (1967)। मूल्य 4.00।

5. वालडेन सरोवर

प्रख्यात अमरीकी विचारक हैनरी डेविड थोरो उन्नीसवीं शताब्दी के आदर्शवादी महापुरुष और क्रान्तिकारी थे। गांधीजी ने उन्हींके इस विचार को 'सत्याग्रह' के रूप में अपनाया। थोरो ने 'वालडेन सरोवर' के किनारे पर बिताये गये अपने एकान्त जीवन के अनुभवों को इस ग्रन्थ में प्रस्तुत किया है। बनारसीदास चतुर्वेदी द्वारा अनूदित। पृष्ठ 326, द्वितीय संस्करण (1971)। मूल्य 7.50।

6. सात युगोस्लाव कहानियाँ

युगोस्लाविया की वीर जनता ने जिस प्रकार हिटलर की ताकत से लोहा लिया, वर्णनातीत कष्ट झेले और फिर राष्ट्रों की बिरादरी में सम्मानपूर्ण स्थान पाया, वह हम सबकी सराहना का विषय रहा है। इन कहानियों में मृत्यु के साथ खेलने को तत्पर और जीवन से अटूट प्यार करने वाले इन जनों के साहित्य में उनकी निष्ठा और लगन का मार्मिक प्रतिबिम्ब मिलता है। पृष्ठ 68, द्वितीय संस्करण (1967)। मूल्य 2.50।

7. झोंपड़ी वाले और अन्य कहानियाँ

आधुनिक रूमानियायी साहित्य में मिहाइल सादोवेनू का वही स्थान है जो हिन्दी में प्रेमचन्द का है। उनकी रचनाएं सच्चे अर्थों में रूमानिया के जन-जीवन की प्रतिनिधि हैं। इस पुस्तक में लघु उपन्यास 'झोंपड़ी वाले' के अतिरिक्त उनकी तीन कहानियां भी सम्मिलित हैं। अनुवादक : निर्मल वर्मा। पृष्ठ 164, तृतीय संस्करण (1976)। मूल्य 7.00।

8. अगमेम्नन

(ग्रीक नाटक) : लेखक : वरिष्ठतम नाटककार-ईस्खिलुस (525 ई०पू०)। अर्गोस के अभिशप्त राजवंश की प्रतीकात्मक पौराणिक कहानी। होमर के 'इलियड' पर आधारित कथावस्तु; जिसे लेखक ने बहुत निखार कर प्रस्तुत किया है। अनुवादक : बालकृष्ण राव। पृष्ठ : 114, (1969)। मूल्य 4.50

9. राजा

(इतालवी क्लासिक : दि प्रिंस) : लेखक : माकियावेल्ली। भारतीय साहित्य में चाणक्य के स्थान के साथ-साथ यूरोपीय साहित्य में माकियावेल्ली के स्थान की तुलना की जा सकती है। अनुवादक : रामसिंह तोमर। पृष्ठ 120, (1970)। मूल्य 4.00।

10. मुर्ग़ाबी

(नार्वेजियन नाटक : दि वाइल्ड डक) : लेखक : हैनरिक इब्सन, जिसका नाम आधुनिक काल के नाटककारों में लिया जाता है। प्रस्तुत पुस्तक लेखक के लोकप्रिय नाटकों में से एक है जिसमें खोखले आदर्शवाद और सुधारवादी लोगों की लेखक ने खूब हंसी उड़ाई है। अनुवादक : यशपाल। पृष्ठ 172, (1970)। मूल्य 4.00।

11. आर० यू० आर०

(चैक नाटक) : लेखक : कैरैल चैपैक—चैकोस्लोवाकिया के विख्यात नाटककार। लेखक की सर्वोत्तम कृति आर० यू० आर० अर्थात् 'रोसुम्स युनिवर्सल रोबोज'; जिसमें अति यन्त्रीकरण पर व्यंग्य किया गया है। 1921 में खेले गये इस नाटक में 'रोबोट' नामक एक नया शब्द बना जो कि आज भी प्रचलित है। अनुवादक : निर्मल वर्मा। पृष्ठ 104, (1972)। मूल्य 4.00।

12. पथ का प्रभाव

(चीनी क्लासिक : ताओ-ते-चिंग) लेखक : लाओ-त्से। लाओ-त्से को कानफ्यूशियस का समकालीन माना गया है। लाओ-त्से की रचनाएं सफलता और असफलता, पालन और ध्वंस, सुख और दुःख, लाभ और हानि के ऐतिहासिक द्वन्द्ववाद से भरी पड़ी है। अनुवादक : जगदीशचन्द्र जैन। पृष्ठ 71, (1973)। मूल्य 2.50।

13. बारह हंगारी कहानियाँ

चुनी हुई हंगेरियन कहानियों का संग्रह, जो कि हंगरी के कथा-साहित्य की विविधता और रंगीनी का प्रभावोत्पादक परिचय देता है। हंगरी का साहित्य यद्यपि बहुत प्राचीन नहीं है तथापि यूरोप के साहित्यिक वैभव में उसका योगदान अत्यन्त विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण है। अनुवादक : भारत भूषण अग्रवाल तथा रघुवीर सहाय। पृष्ठ 200, (1974)। मूल्य 10.00।

प्राप्ति स्थान

साहित्य अकादेमी

रवीन्द्र भवन, 35, फीरोज़शाह रोड,

नई दिल्ली—110001

शुभकामनाओं सहित

भोरुका चेरिटेबिल ट्रस्ट

नयी दिल्ली

चार वर्ष में पूर्ण नशाबन्दी

—प्रधानमंत्री का वचन

और दिल्ली इसकी अगवानी करेगी

—प्रशासन का संकल्प

नयी आबकारी नीति

—एक अप्रैल से लक्ष्य की ओर

- 105 से बढ़ाकर 158 शुष्क दिवस
- महीने की पहली और सातवीं तिथि, हर बुध और रविवार, सभी राजपत्रित तथा निर्बन्धित अवकाश शुष्क होंगे
- अन्य राज्यों से मिलते 5 कि० मी० क्षेत्र में शराब वर्जित
- देशी शराब की दुकानें 12 की जगह 10
- अंग्रेजी शराब की दुकानें 32 से घटकर 28
- क्लबों और होटलों में शराब बन्द
- दुकानों का समय केवल सुबह 11 से सायं सात तक
- शुष्क दिवस सभी के लिए लाजमी
- लगातार दो दिन से भी अधिक शुष्क दिवस हो सकेंगे
- बार में शुष्क दिवसों पर किसी को भी शराब नहीं
- नशाबन्दी के लिए जन-जागृति अभियान
- बोतलों के लिफाफों पर स्पष्ट चेतावनी
- दुकानों पर भी चेतावनी अंकित
- नशाखोरों के उपचार के लिए अस्पतालों में दो क्लीनिक
- आबकारी विभाग नहीं, मद्य-निषेध विभाग
- जनता की मांग पर दुकानों के हटाने की व्यवस्था
- प्रशासन शराब व्यापार से दूर रहेगा
- देशी शराब के मूल्य में तीन रु० प्रति बोतल वृद्धि
- लाइसैंस शुल्क में वृद्धि
- देशी शराब आधी-पौनी बोतलों में भी
- बार में पीने की आज्ञा केवल विदेशियों को
- नशाबन्दी प्रचार के लिए दो लाख रु० की व्यवस्था
- फिल्मों और नाटकों का प्रदर्शन
- बसों तथा वाहनों पर पोस्टर लगाने की योजना
- जबरदस्ती नहीं, समझाने पर बल

सूचना एवं प्रचार निदेशालय, दिल्ली प्रशासन, दिल्ली द्वारा प्रसारित

राजस्थान में जनता शासन की उल्लेखनीय उपलब्धियां

० अन्त्योदय परिवार लाभान्वित	89,000
० राजस्व अभियान में मामलों का मौके पर निपटारा	9 लाख
० प्राथमिक शालाएं खोली गयीं	1431
० उच्च प्राथमिक पाठशालाएं खोली गयीं	568
० माध्यमिक शालाएं खोली गयीं	521
० महाविद्यालय खोले गये	13
० स्नातक महाविद्यालयों को स्नातकोत्तर महाविद्यालयों में क्रमोन्नत किया गया	15
० आयुर्वेदिक, यूनानी एवं होम्योपैथिक औषधालय खोले गये	200
० एलोपैथिक डिस्पेन्सरियां स्वीकृत	203
० चिकित्सा उपकेन्द्र स्वीकृत	496
० मेडिकल एड-पोस्ट्स स्वीकृत	128
० पशु चिकित्सालय स्वीकृत	50
० उद्योगों को कच्चे माल की अधिक सप्लाई	100 प्रतिशत
० गलीचा प्रशिक्षण केन्द्र स्थापित	52
० हाथ करघे स्थापित	4064
० गांवों को जल प्रदाय योजना के अन्तर्गत लिया गया	450
० अनुसूचित जाति, अनुसूचित जन-जाति के छात्रों के लिए सरकार के समाज कल्याण विभाग द्वारा संचालित छात्रावासों में सीटों की वृद्धि	2201
० अतिरिक्त राशि अनुसूचित-जाति, अनुसूचित जन-जाति के छात्रों को छात्रवृत्ति देने हेतु स्वीकृत	48 लाख रुपये
० प्रतिदिन दूध का संग्रह	३ लाख लीटर
० परिवारों को डेयरी विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत लाया गया	80,000
० दूध के विक्रय मूल्य के रूप में परिवारों की वार्षिक आय	15 करोड़ रुपये
० गांवों को विद्युतिकृत किया गया	1648
० कुओं पर विद्युत	20,881

- ० 103 विकास खंडों में एक नया एकीकृत ग्राम विकास कार्यक्रम प्रारम्भ किया जा रहा है।
- ० 104 ग्रामों में समग्र ग्रामोदय योजना लागू की जानी है।
- ० 22 करोड़ रुपये का एक मास्टर प्लान मंडी सड़कों के लिए अनुमोदित किया गया है।

(राजस्थान सरकार द्वारा प्रसारित)

केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग के प्रकाशन

1. विश्वविद्यालय स्तरीय पुस्तकें :—

हिन्दी के माध्यम से पढ़ने के लिए बी०ए०, बी०एस-सी०, बी०काम० आदि डिग्री स्तर तक विज्ञान, मानविकी तथा समाज विज्ञान के सभी विषयों में 900 पुस्तकें उपलब्ध हैं। **इनकी खरीद पर विशेष रियायतें दी जाती हैं।**

2. तकनीकी शब्दावलियां :—

विज्ञान, मानविकी, समाज विज्ञान, कृषि, इंजीनियरी, आयुर्विज्ञान आदि सभी विषयों से संबंधित अलग-अलग तकनीकी शब्दावलियां उपलब्ध हैं।

विज्ञान, मानविकी और आयुर्विज्ञान विषयों के समेकित बृहत पारिभाषिक संग्रह भी उपलब्ध हैं।

	मूल्य
1. बृहत पारिभाषिक शब्द संग्रह (विज्ञान) खंड—I (ए से के तक)	17-25
2. बृहत पारिभाषिक शब्द संग्रह (विज्ञान) खंड—II (एल से जैड तक)	17-25
3. बृहत पारिभाषिक शब्द संग्रह (मानविकी) खंड—I (ए से के तक)	16-25
4. बृहत पारिभाषिक शब्द संग्रह (मानविकी) खंड—II (एल से जैड तक)	16-25
5. बृहत पारिभाषिक शब्द संग्रह (आयुर्विज्ञान)	25-00

3. परिभाषा कोश :—

विज्ञान, मानविकी, समाज विज्ञान आदि विषयों के निम्न शब्दकोश भी उपलब्ध हैं जो अध्यापकों, विद्यार्थियों, लेखकों आदि के लिए उपयोगी हैं :

1. पारिभाषिक शब्दकोश (गणित)	18-75
2. पारिभाषिक शब्दकोश (भौतिकी)	4-50
3. पारिभाषिक शब्दकोश (रसायन)	3-25
4. पारिभाषिक शब्दकोश (वनस्पति विज्ञान)	2-25
5. मनोविज्ञान परिभाषा कोश	9-50
6. भूगोल परिभाषा कोश	10-00

4. पत्रिकाएं :—यूनेस्को दूत, शिल्पीमित्र, आयुर्विज्ञान पत्रिका, चिकित्सा सेवा आदि पत्रिकाएं तथा गृह विज्ञान, मानव विज्ञान तथा राजनीति चयनिका भी उपलब्ध हैं।

प्राप्ति-स्थान

सहायक निदेशक (बिक्री)
केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय
पश्चिमी खंड-7, रामकृष्णपुरम्
नई दिल्ली-110022

बिहार सम्पूर्ण क्रान्ति की ओर

राज्य सरकार द्वारा हरिजनों, आदिवासियों एवं कमजोर वर्ग के लोगों की सुरक्षा एवं आर्थिक समृद्धि के लिए उठाए गए ठोस कदम

1. आदिवासियों, हरिजनों और अन्य पिछड़े वर्गों पर हो रहे अत्याचारों को रोकने एवं उन्हें सुरक्षा प्रदान करने का पूरा दायित्व सम्बद्ध जिला के जिलाधिकारी एवं आरक्षी अधीक्षक को सौंपा गया है।
2. राज्य स्तर पर सचिवालय में एक पुलिस थाना की स्थापना की गई है, जो राज्य भर के हरिजनों की शिकायतों को दर्ज करेगा।
3. एक विशेष कोषांग का सृजन किया गया है, जिसमें ऐसे विश्वस्त पदाधिकारी रखे जायेंगे, जिन्हें हरिजन, आदिवासी, पिछड़े वर्गों की समस्याओं के प्रति अभिरुचि और सहानुभूति हो।
4. हरिजन, आदिवासी और कमजोर वर्ग के लोगों की सुरक्षा के लिए गैर-सरकारी संस्थाओं की भी सहायता ली जायेगी। गैर-सरकारी समितियां थाना, अनुमंडल एवं जिला-स्तर पर गठित की जायेगी।
5. आदिवासियों/हरिजनों के विरुद्ध वन-विभाग द्वारा किए जाने वाले छोटे-छोटे मुकदमों को निबटाने की व्यवस्था भी की गई है।
6. हरिजनों, आदिवासियों और कमजोर वर्गों की जमीन और मकान की जबरन बेदखली खत्म कर कानून के अन्तर्गत उन्हें वापस दिलाने का पूर्ण उत्तरदायित्व जिलाधिकारियों और आरक्षी अधीक्षकों को सौंपा गया है।
7. जिलाधिकारियों को निर्देश दिए गये हैं कि सरकार द्वारा वितरित जमीन पर से हरिजन/आदिवासी को न्यायालय की निषेधाज्ञा द्वारा बेदखल किये जाने पर उसके विरुद्ध उसी न्यायालय या उच्चतर न्यायालय में हरिजन/आदिवासी की तरफ से सरकार द्वारा मुकदमा लड़ा जाये।
8. जो व्यक्ति हरिजनों, आदिवासियों तथा कमजोर वर्गों पर हो रहे या होने वाले अत्याचारों की सही सूचना सरकार को देंगे उन्हें 100 रुपये का पुरस्कार दिया जायेगा।
9. सरकार ने एक निर्देश जारी किया है कि हरिजन, आदिवासी और कमजोर वर्गों पर किये गये सांघातिक प्रहार, बलात्कार तथा हत्या की डाक्टरी जांच ठीक-ठीक नहीं होने पर किसी वरीय डाक्टर से इसकी पुनः जांच कराई जाय और दोषी डाक्टरों पर अनुशासनिक कार्रवाई की जाये।
10. अनुसूचित जाति/जन-जाति के आरक्षण संबंधी नियमों के कठोरतापूर्वक अनुपालन के लिए प्रत्येक विभाग में तीन-तीन विधायकों की एक समिति गठित की गयी है।
11. हरिजनों/आदिवासियों के मामलों में नियोजनालय द्वारा प्रत्येक पद के लिए नाम भेजने वाली प्रक्रिया समाप्त कर दी गयी है। अब कोई भी हरिजन/आदिवासी, यदि नियोजनालय में निबंधित नहीं है तो, सीधे आवेदन दे सकता है।
12. आदिवासियों/हरिजनों को अधिक संख्या में बहाली हेतु उन्हें योग्य बनाने के लिए क्षेत्रीय प्रशिक्षण विद्यालय की व्यवस्था है।
13. लोक अभियोजक (पी॰ पी॰) एवं सहायक लोक अभियोजक (ए॰पी॰पी॰) को निर्देशित किया गया है कि अस्पृश्यता सम्बन्धी घटना सामने आने पर उसके मेल-मिलाप की चेष्टा नहीं की जाये, बल्कि ऐसा प्रयत्न किया जाय कि अपराधी के विरुद्ध कानूनी कार्रवाई निश्चित तौर पर हो और अपराधियों को उपयुक्त सजा मिले।
14. उत्पीड़ित हरिजनों/आदिवासियों के परिवारों को आर्थिक अनुदान देने के उद्देश्य से एक राहत कोष का सृजन किया गया है।
15. उपर्युक्त व्यवस्थाएं इस बात की द्योतक हैं कि हरिजन/आदिवासी तथा कमजोर वर्ग के लोगों की सुरक्षा तथा समृद्धि के लिए बिहार सरकार कृत-संकल्प है।

सूचना एवं जन-सम्पर्क विभाग, बिहार द्वारा प्रसारित।

महाराष्ट्रातील सुनियोजित नव्या शहरांची निर्माती
प्रगतिपथावर असलेले नव्या शहरांचे

प्रकल्प :

(1) नवी मुंबई

(2) नवीन औरंगाबाद

(3) नवीन नाशिक

(4) नवीन नांदेड

सर्व उत्पन्न गटासाठी बांधलेली आणि बांधली जात असलेली एकूण घरे :—14,010.
सिडको विकसित करत असलेल्या स्वयंपूर्ण नव्या नगरात मिळणा-या सुखसोयी :

- 5.25 प्रतिशत ते 11.75 टक्के दराच्या व 10 ते 20 वर्षाच्या कालावधीत फेडाव-याच्या हडकोच्या कर्जासह घरे.
- विकसित केलेले सुयोग्य निवासी प्लॉटस्.
- चौविस तास पाणीपुरवठा.
- रहात्या घरानजीक बाजारपेठ, शाळा, हॉस्पिटल, कम्युनिटी सेंटर इत्यादि सुखसोई उपलब्ध.
- मुबलक मोकळया जागा, क्रिडांगणे.
- जुन्या शहराशी जोडणारी कार्यक्षम वहातूक व्यवस्था.

नगर नियोजनातील आधुनिक कल्पनाप्रमाणे उभारल्या जाणा-या नव्या नगरांचे नागरिक व्हा.

: ० :

सिटी अंड इंडस्ट्रियल डेव्हलपमेंट कार्पोरेशन ऑफ महाराष्ट्र लिमिटेड,

निर्मल, 2रा मंजला, नरीमन पॉइंट, मुंबई

दूरध्वनी : 232420/81.

हमारे प्रकाशन

उपन्यास

सूखा पत्ता	अमरकान्त	20.00	हरकारा	रघुवीर चौधरी	12.00
तुम्हारे नाम	कामतानाथ	25.00	प्रेम कहानी	ममता कालिया	15.00

कहानी-संग्रह

आदमीनामा	काशीनाथसिंह	12.50	एक अदद औरत	ममता कालिया	12.00
ठाकुर संवाद	सतीश जमाली	11.00	खुले आकाश के नीचे	नमितासिंह	12.00

काव्य

राधा (खण्ड-2)	आचार्य जानकी वल्लभ शास्त्री	20.00
बीड़ी बुझने के करीब	मान बहादुर सिंह	12.00
सुयोधन	जगदीश पाण्डेय	15.00

आलोचना

आधुनिक हिन्दी उपन्यास और मानवीय अर्थवत्ता	नवलकिशोर	30.00
सिलसिला (समकालीन कहानी की पहचान)	मधुरेश	30.00
मार्क्सवादी आलोचना और इतिहास	ज्ञानरंजन	30.00
हिन्दी कविता का उपेक्षित अध्याय	डा० मनोहर प्रभाकर	40.00
आधुनिक हिन्दी कविता का पौराणिक आधार	नन्दकिशोर नन्दन	30.00
मुक्तिबोध	सं० विश्वनाथ तिवारी	25.00
राजभाषा के सन्दर्भ में हिन्दी आन्दोलन का इतिहास	डॉ० द्विवेदी	40.00
मौलाना दाउद कृत चन्दायन	डॉ० शिवकुमार शाण्डिल्य	36.00
अवधी साहित्य : सर्वेक्षण और समीक्षा	सं० जगदीश पाण्डेय	30.00
लोक साहित्य में काम प्रसंग	सं० जगदीश पाण्डेय	30.00
तुलसीदास : मूल्यांकन के विविध आयाम	सं० डॉ० त्रिभुवन चौबे	24.00
धर्मदर्शन : सिद्धान्त और प्रयोग	दुर्गादत्त पाण्डेय	प्रेस में

राजनीति

तीसरी आजादी की दस्तक	जगदीश पाण्डेय	प्रकाशोन्मुख

□ दूसरी आजादी के संक्रमण काल में युवा पत्रकार (पीयूष) जगदीश पाण्डेय की आपबीती और जगबीती □ साहित्यकारों, पत्रकारों, राजनेताओं, छात्रों, श्रमजीवियों, उद्योगपतियों और तान्त्रिकों की राय □ दूसरी आजादी की व्याकुलता, प्राप्ति, उपभोग और तीसरी आजादी के लिए संघर्ष।

नोट : हिन्दी में प्रकाशित 'कोई पुस्तक', अपनी इच्छानुसार हमसे अवश्य मंगायें, फिर आपकी रुचि की पुस्तकों की सूचना आपको बराबर मिलती रहेगी। हिन्दी में प्रकाशित उत्कृष्ट साहित्य के लिए हमें लिखे।

प्रकाशन संस्थान

216 श्रीरामनगर, शाहदरा, दिल्ली-110032
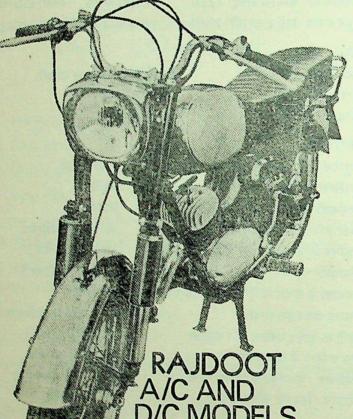
नेशनल
बुक
ट्रस्ट,
इंडिया

हिन्दी जगत को हमारा अवदान
सुरुचिपूर्ण, कलात्मक और रोचक अंग्रेजी और अन्य बारह
भारतीय भाषाओं से अनूदित श्रेष्ठ लोकप्रिय पुस्तकें

ग्रामायण : आर० बी० कुलकर्णी
वस्तुतः पूरा उपन्यास संपूर्ण ग्रामायण है—गांवों के दुखों, अवसादों और पतन का। अनुवाद—एच० वी० रामचंद्र राव।
पृष्ठ 428 डिमाई अठपेजी रुपये 18.00

प्रसारण और समाज : मेहरा मसानी
प्रस्तुत पुस्तक में भारतीय प्रसारण की कुछ जटिल समस्याओं का विश्लेषण किया गया है। अनुवाद : महेंद्र चतुर्वेदी।
पृष्ठ 216 डिमाई अठपेजी रुपये 9.50

अनादि-अनंत : श्री रंग
यह उपन्यास केवल स्मृति के द्वारा ही ग्यारह-बारह वर्ष के जीवन को व्यक्त करने वाली एक विशिष्ट शैली में लिखा गया है। उपन्यास की कथा-वस्तु स्त्री-पुरुष का संबंध है। अनुवाद : बी० आर० नारायण।
पृष्ठ 206 डिमाई अठपेजी रुपये 12.25

गृह भंग : एस० एल० भैरप्पा
यह कन्नड़ उपन्यास ग्रामीण जीवन की एक युवती नंजम्मा के जीवन की अंतहीन त्रासदियों का ऐसा चित्रण करता है कि हम ठगे से रह जाते हैं। अनुवाद : बी० बी० पुत्रन।
पृष्ठ 420 डिमाई अठपेजी रुपये 15.25

जन संचार : रामकृष्ण चटर्जी
यह पुस्तक समाचार पत्रों, प्रेस संबंधी कानूनों, रेडियो, दूरदर्शन, वृत्तचित्र आदि सभी संचार माध्यमों का बड़े रोचक ढंग से विवरणात्मक परिचय देती है।
पृष्ठ 206 डिमाई अठपेजी रुपये 10.50

सीढ़ी के डंडे : तकषी शिवशंकर पिल्लै
एक ग्रामीण युवक केशव पिल्लै की कहानी, जो क्रमानुसार उन्नति करके सचिवालय का चीफ सेक्रेटरी तक बन जाता है और बाद में अपने को ऊंचाई पर पहुंचाने वाले को ही धक्का देकर नीचे गिराता है। अनुवाद : डा० सुधांशु चतुर्वेदी।
पृष्ठ 550 डिमाई अठपेजी रुपये 26.00

विभिन्न भारतीय भाषाओं से हिन्दी में और हिन्दी से विभिन्न भारतीय भाषाओं में अनुवाद कार्य में पारंगत अनुवादक अपने बारे में विस्तृत विवरण ट्रस्ट को भेजें।

पुस्तकों व सूची-पत्र के लिए संपर्क करें

बिक्री प्रबंधक
नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया
ए-5, ग्रीन पार्क, नयी दिल्ली-110016

उत्तर रेलवे

प्रिय विद्यार्थियो, तीर्थ-यात्रियो, पर्यटक बन्धुओ

अब भारत दर्शन का आसान तरीका यह है।

कि आप देश के सरकूलर भ्रमण के लिए पहले या दूसरे दर्जे का सरकूलर यात्रा टिकट निर्धारित स्टेशनों से खरीदें। इसका रियायती किराया डाक/एक्सप्रेस गाड़ी के सामान्य किराये से 15 प्रतिशत कम है। किराया—श्रेणी तथा वैधता की अवधि (30, 60 या 90 दिन) यात्रा की कुल दूरी पर निर्भर करेगी। मार्ग में आप जिस स्टेशन पर यात्रा विराम करना चाहें और जितने समय के लिए करना चाहें उसके लिए आपको अनुमति होगी किन्तु यह अवधि टिकट वैधता की अवधि से आगे नहीं होनी चाहिए।

हमने आपकी आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए 30 प्रकार के मानक सरकूलर यात्रा टिकट निर्धारित किये हैं। इनमें भारत के सम्पूर्ण मनोरम दर्शनीय स्थलों को शामिल किया गया है। इनमें से आप किसी भी एक यात्रा का चयन कर सकते हैं।

यदि आपने अपनी सुविधा के अनुसार अपना कोई अलग से कार्यक्रम बनाया है तो आप कृपया इस सम्बन्ध में हमसे व्यक्तिगत रूप से सम्पर्क स्थापित करें या अपनी आवश्यकता के बारे में हमें लिखें। हम आपके भ्रमण कार्यक्रम के लिए रियायती किराये का हिसाब लगाकर आपको जानकारी देंगे। (यह आवश्यक है कि यात्रा सरकूलर होनी चाहिए और यात्रा की दूरी 2400 किलोमीटर से कम नहीं होनी चाहिए तथा प्रभारी किराया—दूरी सीधे यात्रा मार्ग द्वारा भ्रमण सूची में दर्ज प्रारम्भिक स्टेशन और सबसे दूर के स्टेशन के बीच की दूरी से तीन गुना से अधिक होनी चाहिए)।

विस्तृत जानकारी के लिए कृपया समीपवर्ती स्टेशन के स्टेशन मास्टर या सम्बन्धित मंडल के वाणिज्य अधीक्षक से सम्पर्क स्थापित करें या टेलीफोन नम्बर 387326/ 387503 पर जानकारी प्राप्त करें।

मुख्य वाणिज्य अधीक्षक

उत्तर रेलवे, नयी दिल्ली

Champion

THAT TOUCH OF CLASS!
USHA

रूपक प्रिंटर्स दिल्ली-32 में मुद्रित